उदार हृदय श्री सुन्दरलाल जी जैन

एक : परिचय

भारतीय मूर्धन्य मनीषियों ने जीवन के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन किया है। उन्होंने बताया है कि जीवन वही श्रेष्ठ है जिसमें विनय हो, विवेक हो, विराग हो। और सम्पत्ति वही श्रेष्ठ है, जिसका उपयोग धर्म, समाज और राष्ट्रहित के लिए हो। जो सम्पत्ति स्वयं के लिए उपयोग में आती हो किन्तु पर के लिए व्यय न होती हो उस सम्पत्ति को महालक्ष्मी के रूप में भारतीय चिन्तकों ने स्वीकार नहीं किया है। जब हम प्रस्तुत कसौटी पर श्रीमान् सुन्दरलाल जी कजोड़ीमल जी जैन के जीवन को कसते हैं तो ज्ञात होता है कि उनका जीवन एक श्रेष्ठ जीवन है।

श्री सुन्दरलाल जी राजस्थान में बल्लभनगर (उदयपुर) के निवासी हैं। आपके पूज्य पिताश्री का नाम कजोड़ीमल जी और मातेश्वरी का नाम सुहागदेवी है। आपके ज्येष्ठ भ्राता हैं—स्व० श्रीमान् रूपलाल जी, श्रीमान् लक्ष्मीलाल जी, श्रीमान् कन्हैयालाल जी, श्रीमान् गोकुलचन्द जी, श्रीमान् मांगीलाल जी। सभी भाइयों में अपार स्नेह और सद्भावना है। आपका पूरा परिवार धर्मनिष्ठ है।

श्री सुन्दरलाल जी युवा है। उनमें युवकोचित जोश है। समाजोत्थान की मंगलमय भावना है। आपका व्यवसाय उत्तर-प्रदेश मेरठ में एवरेस्ट लेबोरेटरीज के नाम से है। आप सर्जीकल ड्रेसिंग एण्ड क्रेप बाइण्डेज के निर्माता के रूप में प्रसिद्ध हैं। आप व्यापार में प्रामाणिकता और नैतिकता का विशेष ध्यान रखते हैं।

परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म० के प्रति आपका तथा आपके सम्पूर्ण परिवार की पूर्ण निष्ठा है।

प्रस्तुत मुक्ति पथ पुस्तक के प्रकाशन में आपके उदारता पूर्वक अनुदान प्रदान किया है एतदर्थ हम आपके आभारी हैं। आशा है, भविष्य में भी आप द्वारा संस्था को सहयोग मिलता रहेगा।

श्री चुन्नीलाल धर्मावत

कोषाध्यक्ष

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

प्रकाशकीय

अपने प्रबुद्ध पाठकों के कर कमलों में "मुक्तिपथ" उपन्यास समर्पित करते हुए अपार आनन्द की अनुभूति हो रही है। भगवान अरिष्टनेमि २२वें तीर्थंकर हैं। इतिहास के मूर्धन्य मनीषियों ने कर्मयोगी श्रीकृष्ण को एक ऐतिहासिक पुरुष माना है। श्रीकृष्ण के युग में ही भगवान अरिष्टनेमि हुए हैं। वे उनके चचेरे भाई थे इसलिए भगवान अरिष्टनेमि भी एक ऐतिहासिक पुरुष हैं।

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी ने "भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन" ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थों के आलोक में लिखा था। उस शोध ग्रन्थ का प्रकाशन हमने सन् १९७१ में किया था। जिस ग्रन्थ में अनेक प्रमाण देकर विद्वान लेखक ने यह सिद्ध किया था कि अरिष्टनेमि ऐतिहासिक पुरुष हैं। प्रस्तुत उपन्यास उपाचार्यश्री की एक अभिनव कृति है। इस कृति में अरिष्टनेमि के पूर्व भवों का चित्रण इस प्रकार किया गया है कि पाठक पढ़ते-पढ़ते झूमने लगता है। अरिष्टनेमि के पूर्व आठ भव हैं। जिन भवों में उन्होंने साधना कर अपने जीवन को निखारा है। पूर्वभवों में जो सुदीर्घ साधना की जिसके फलस्वरूप वे तीर्थंकर जैसे गौरवपूर्ण पद को प्राप्त कर सके। प्रस्तुत उपन्यास में कुल ९ भवों की कहानी है। यह कहानी बहुत ही दिलचस्प है।

जैन धर्म की यह विशेषता रही है कि उसने अवतारवाद को नहीं माना। अवतारवाद में आत्मा को ऊपर से नीचे आना होता है, जबकि उत्तारवाद में आत्मा नीचे से ऊपर की ओर प्रगति करता है। यही आरोहण का चित्रण प्रस्तुत उपन्यास में हुआ है। उपाचार्यश्री के अनेक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं जो अत्यधिक लोकप्रिय हुए हैं। हमें आशा ही नहीं,

अपितु पूर्ण विश्वास है कि पूर्व उपन्यासों की तरह यह उपन्यास भी जन-जन के मन को मुग्ध करेगा।

दिन-प्रतिदिन मंहगाई बढ़ रही है। कागज, छपाई आदि इतने मंहगे हो रहे हैं कि सामान्य व्यक्ति प्रकाशनों को खरीद नहीं सकता। तथापि उदार दानी महानुभावों के हार्दिक सहयोग से हम लागत मूल्य से भी कम मूल्य में साहित्य देने का प्रयास कर रहे हैं। आशा है हमारा यह प्रयास साहित्य प्रेमियों के लिए वरदान रूप में सिद्ध होगा।

कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय,
शास्त्री सर्कल, उदयपुर

लेखक की कलम से

भगवान अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर हैं। आधुनिक इतिहासकारों ने जो कि साम्प्रदायिक संकीर्णता से मुक्त एवं शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से सम्पन्न हैं, उनको ऐतिहासिक पुरुषों की पंक्ति में स्थान दिया है। किन्तु साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से इतिहास को भी अन्यथा रूप देने वाले लोग इस तथ्य को स्वीकार नहीं करना चाहते। मगर जब वे कर्मयोगी श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं तो अरिष्टनेमि भी उसी युग में हुए हैं और दोनों में अत्यन्त निकट के पारिवारिक सम्बन्ध थे, अर्थात् श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव और अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय दोनों सहोदर भाई थे, अतः उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने में संकोच नहीं होना चाहिए।

वैदिक साहित्य के आलोक में :

ऋग्वेद में 'अरिष्टनेमि' शब्द चार बार प्रयुक्त हुआ है। 'स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः' (ऋग्वेद १।१४।८९।६) यहाँ पर अरिष्टनेमि शब्द भगवान अरिष्टनेमि के लिए आया है। कितने ही विद्वानों की मान्यता है कि छान्दोग्योपनिषद् में भगवान अरिष्टनेमि का नाम 'घोर आंगिरस ऋषि' आया है। घोर आंगिरस ऋषि ने श्रीकृष्ण को आत्मयज्ञ की शिक्षा प्रदान की थी। उनकी दक्षिणा, तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा, सत्यवचन रूप थी। धर्मानन्द कौशाम्बी का मानना है कि आंगिरस भगवान नेमिनाथ का ही नाम था। घोर शब्द भी जैन श्रमणों के आचार और तपस्या की उग्रता बताने के लिए आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर व्यवहृत हुआ है।

छान्दोग्योपनिषद् में देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण को घोर आंगिरस ऋषि उपदेश देते हुए कहते हैं—अरे कृष्ण ! जब मानव का अन्त समय सन्निकट आये तब उसे तीन वाक्यों का स्मरण करना चाहिये—

(१) त्वं अक्षतमसि—तू अविनश्वर है।

(२) त्वं अच्युतमसि—तू एक रस में रहने वाला है।

(३) त्वं प्राणसंशितमसि—तू प्राणियों का जीवन दाता है।

श्रीकृष्ण इस उपदेश को श्रवण कर अपिपास हो गए, उन्हें अब किसी भी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं रही। वे अपने आपको धन्य अनुभव करने लगे।

प्रस्तुत कथन की तुलना हम जैन आगमों में आए हुए भगवान अरिष्टनेमि के भविष्य कथन से कर सकते हैं। द्वारिका का विनाश और श्री कृष्ण की जरत्कुमार के हाथ से मृत्यु होगी, यह सुनकर श्रीकृष्ण चिन्तित होते हैं। तब उन्हें भगवान उपदेश सुनाते हैं। जिसे सुनकर श्रीकृष्ण संतुष्ट एवं खेदरहित होते हैं।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में भगवान अरिष्टनेमि को तार्क्ष्य अरिष्टनेमि भी लिखा है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति न पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिदधातु॥

विज्ञों की धारणा है कि अरिष्टनेमि शब्द का प्रयोग जो वेदों में हुआ है वह भगवान अरिष्टनेमि के लिए है।

महाभारत में भी "तार्क्ष्य" शब्द का प्रयोग हुआ है। जो भगवान अरिष्टनेमि का ही अपर नाम होना चाहिये। उन्होंने राजा सगर को जो मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है वह जैन धर्म के मोक्ष-मन्तव्यों से अत्यधिक मिलता-जुलता है। उसे पढ़ते समय सहज ही ज्ञात होता है कि हम मोक्ष सम्बन्धी जैनागमिक वर्णन पढ़ रहे हैं, उन्होंने कहा—

सगर! मोक्ष का सुख ही वस्तुतः समीचीन सुख है। जो अहर्निश धन-धान्य आदि के उपार्जन में व्यस्त है, पुत्र और पशुओं में ही अनुरक्त है वह मूर्ख है, उसे यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जिसकी बुद्धि विषयों में आसक्त है, जिसका मन अशान्त है, ऐसे मानव का उपचार कठिन है, क्योंकि जो राग के बन्धन में बँधा हुआ है वह मूढ़ है तथा मोक्ष पाने के लिए अयोग्य है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि सगर के समय में वैदिक लोग

मोक्ष में विश्वास नहीं करते थे अतः यह उपदेश किसी वैदिक ऋषि का नहीं हो सकता। उसका सम्बन्ध श्रमण संस्कृति से है।

यजुर्वेद में अरिष्टनेमि का उल्लेख एक स्थान पर इस प्रकार आया है—अध्यात्मयज्ञ को प्रगट करने वाले, संसार के भव्य जीवों को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा बलवान होती हैं उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लिए आहुति समर्पित करता हूँ।

डाक्टर राधाकृष्णन ने लिखा है यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है।

स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड में वर्णन है—अपने जन्म के पिछले भाग में वामन ने तप किया। उस तप के प्रभाव से शिव ने वामन को दर्शन दिए। वे शिव श्यामवर्ण, अचेल तथा पद्मासन से स्थित थे। वामन ने उनका नाम नेमिनाथ रखा। यह नेमिनाथ इस घोर कलिकाल में सब पापों का नाश करने वाले हैं। उनके दर्शन एवं स्पर्श से करोड़ों यज्ञों का फल प्राप्त होता है।

प्रभासपुराण में भी अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है। महाभारत के अनुशासन पर्व, अध्याय १४९ में विष्णु सहस्र नाम में दो स्थानों पर 'शूरः शौरिर्जनेश्वरः' पद व्यवहृत हुआ है। जैसे—

अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः।
अनुकूलः शतावर्तः पद्मी पद्मनिमेक्षणः॥
कालनेमि महावीरः शौरिः शूरर्जनेश्वरः।
त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहाहरिः॥

इन श्लोकों में 'शूरः शौरिर्जनेश्वरः' शब्दों के स्थान में 'शूरः शौरिजिनेश्वरः' पाठ मानकर अरिष्टनेमि अर्थ किया गया है।

स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ पर श्रीकृष्ण के लिये शौरि' शब्द का प्रयोग हुआ है। वर्तमान में आगरा जिले के बटेश्वर के सन्निकट शौरिपुर नामक स्थान है। वही प्राचीन युग में यादवों की राजधानी थी। जरासन्ध के भय से यादव वहाँ से भागकर द्वारिका में जा बसे। शौरिपुर में ही भगवान अरिष्टनेमि का जन्म हुआ था, एतदर्थ उन्हें 'शौरि' भी कहा गया है। वे जिनेश्वर तो थे ही अतः यहां 'शूरः शौरिर्जिनेश्वरः' पाठ अधिक तर्कसंगत लगता है। क्योंकि वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में कहीं पर भी शौरि-

पुर के साथ यादवों का सम्बन्ध नहीं बताया। अतः महाभारत में श्रीकृष्ण को 'शौरि' लिखना विचारणीय अवश्य है।

भगवान अरिष्टनेमि का नाम अहिंसा की अखण्ड ज्योति जगाने के कारण इतना अत्यधिक लोकप्रिय हुआ कि महात्मा बुद्ध के नामों की सूची में एक नाम अरिष्टनेमि का भी है। लंकावतार के तृतीय परिवर्तन में बुद्ध के अनेक नाम दिए हैं। वहाँ लिखा है—जिस प्रकार एक ही वस्तु के अनेक नाम प्रयुक्त होते हैं उसी प्रकार बुद्ध के असंख्य नाम हैं। कोई उन्हें तथागत कहते हैं तो कोई उन्हें स्वयंभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, विष्णु, ईश्वरःप्रधान, कपिल, भूतानत, भास्कर, अरिष्टनेमि, राम, व्यास, शुक, इन्द्र, बलि, वरुण आदि नामों से पुकारते हैं।

इतिहासकारों की दृष्टि में :

प्रसिद्ध इतिहासकार डाक्टर राय चौधरी ने अपने वैष्णव धर्म के प्राचीन इतिहास में भगवान अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) को श्रीकृष्ण का चचेरा भाई लिखा है।

पी० सी० दीवान ने लिखा है जैन ग्रन्थों के अनुसार नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के बीच में ८४००० साल का अन्तर है। हिन्दू पुराणों में इस बात का निर्देश नहीं है कि वसुदेव के समुद्रविजय बड़े भाई थे और उनके अरिष्टनेमि नामक कोई पुत्र था। प्रथम कारण के सम्बन्ध में दीवान का कहना है कि हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारे वर्तमान ज्ञान के लिए यह सम्भव नहीं है कि जैन ग्रन्थकारों के द्वारा एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर के बीच में सुदीर्घकाल का अन्तराल कहने में उनका क्या अभिप्राय है, इसका विश्लेषण कर सकें; किन्तु केवल इसी कारण से जैन ग्रन्थों में वर्णित अरिष्टनेमि के जीवन वृत्तान्त को, जो अति प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है, दृष्टि से ओझल कर देना युक्तियुक्त नहीं है।

दूसरे कारण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि भागवत सम्प्रदाय के ग्रन्थकारों ने अपने परम्परागत ज्ञान का उतना ही उपयोग किया है जितना श्रीकृष्ण को परमात्मा सिद्ध करने के लिए आवश्यक था। जैन ग्रन्थों में ऐसे अनेक ऐतिहासिक तथ्य हैं जो भागवत साहित्य में उपलब्ध नहीं है।

कर्नल टॉड ने अरिष्टनेमि के सम्बन्ध में लिखा है—'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। उनमें पहले आदिनाथ एवं दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केन्डीनेविया निवासियों के प्रथम ओडिन तथा चीनियों के प्रथम 'फो' देवता थे।

प्रसिद्ध कोषकार डाक्टर नगेन्द्रनाथवसु, पुरातत्ववेत्ता डाक्टर फुहर्र, प्रोफेसर बारनेट, मिस्टर करवा, डाक्टर हरिदत्त, डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार प्रभृति अन्य अनेक विद्वानों का स्पष्ट मन्तव्य है कि भगवान अरिष्टनेमि एक प्रभावशाली पुरुष हुए थे, उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने में कोई बाधा नहीं है।

साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण वैदिक ग्रन्थों में स्पष्ट नाम का निर्देश होने पर भी टीकाकारों ने अर्थ में परिवर्तन किया है, अतः आज आवश्यकता है तटस्थ दृष्टि से उस पर चिन्तन करने की। जब हम तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करेंगे तो सूर्य के उजाले की भाँति स्पष्ट ज्ञात होगा कि भगवान अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक पुरुष थे।

प्रस्तुत मुक्तिपथ उपन्यास में भगवान अरिष्टनेमि के पावन प्रसंगों को प्रस्तुत किया गया है। तीर्थंकर बनने के पूर्व कितनी साधना आराधना करनी होती है, जीवन में कितने उतार-चढ़ाव आते हैं—पूर्वभवों के कथा-प्रसंगों से स्पष्ट हो जाता है। जैन धर्म ने अवतारवाद को नहीं, किन्तु उत्तारवाद को महत्व दिया हैं। साधना से ही एक दिन नर-नारायण बन जाता है। सामान्य मानव तीर्थंकर जैसे गौरवपूर्ण पद को प्राप्त कर लेता है।

उपन्यास शैली में मैंने भगवान अरिष्टनेमि के विराट जीवन की गाथाएँ प्रस्तुत की हैं। इसके पूर्व सन् १९७१ में मैंने 'भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण' पर एक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया था। पर यह उपन्यास शैली में किया गया है। आशा है, यह उपन्यास जन-जन के अन्तर्मानस में संयम-साधना, तप-आराधना और मनोमन्थन की पावन प्रेरणा प्रदान करेगा।

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० का मार्गदर्शन, श्रमण संघ के महामहिम राष्ट्र सन्त आचार्य सम्राट् का मंगलमय

आशीर्वाद मेरे जीवन का प्रेरणा स्रोत रहा है। दोनों ही महापुरुषों के प्रति मैं अनन्त आस्था व्यक्त करता हूँ।

ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने में स्नेह सौजन्य मूर्ति ज्ञान जी भारिल्ल ने जिस निष्ठा का परिचय दिया है, वह उनकी हार्दिक भव्य भावना का प्रतीक है। जिन महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ है, उन सभी को हार्दिक साधुवाद प्रदान करता हूँ।

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

महावीर भवन
जैन स्थानक
सादड़ी
(धनतेरस)

प्रस्तावना

मुझे जैसा लगा

श्री दिनेश की शब्दावलि में मुनिमणि श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री जैन समाज के प्रतिभा पुरुष हैं। श्री श्वेताम्बरजैन स्थानकवासी समाज के आप समादृत उपाचार्य हैं। इसी कुल के कीर्ति कोविद महामनीषी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि के सुधी शिष्य हैं। प्रतिभापुरुष श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री हिन्दी के समर्थ लेखक हैं। हिन्दी के विविध काव्यरूपों में विविध विषयों पर सैकड़ों ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

उपन्यास एक सशक्त काव्यरूप है। कथा कहानियों पर आपने प्रभूत साहित्य रचा है। मुक्तिपथ आपका बहुचर्चित उपन्यास है। यहाँ इसी उपन्यास के विषय में "मुझे जैसा लगा" शीर्षक से प्रस्तावना के रूप में कुछ लिखकर आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ।

हिन्दी गद्यलेखन आधुनिक युग की महान देन है। उपन्यास इस देन दुनिया की आदिम उपज है। हिन्दी उपन्यास सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द के अनुसार "मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही मूल तत्व है।' विवेच्य कृति इसी निकष पर बेजोड़ निचोड़ है।

काव्य-शास्त्रीय निकष पर खरा सिद्ध होने के लिए कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन-सम्वाद, उद्देश्य, देश-काल और भाषा-शैली नामक षट् तत्वों का समवाय एक आवश्यक साहित्य-परिपाक है। लेखक ने इन सभी बिन्दुओं का ध्यान रखकर विवेच्य उपन्यास की रचना की है।

'मुक्तिपथ' का कथावृत्त त्रेसठ शलाका पुरुषों में से एक सम्भ्रान्त तीर्थंकर-जीवी की जीवन गाथा है। बाईसवें तीर्थंकर, नेमिनाथ के जीवन की उत्कृष्ट उन्नत कथा को लेखक ने इस प्रकार उपन्यस्त किया है कि उसका पूर्वभवी जीवन-सन्दर्भ भी मुखर हो उठा है। जागतिक दलदल में जकड़ा यह जीव किस प्रकार उत्तरोत्तर खुलता जाता है, विवेच्य कथानक में यह सहज ही 'नया सन्देश' अपने पाठकों एवं श्रोताओं को लेखक देता चलता है। कर्म-सिद्धान्त में आस्था रखने वाले आस्थावादियों के लिए उपन्यास का कथा सन्दर्भ आकर्षक और प्रेरक प्रतीत होता है।

उपन्यास में मुख्यकथा के मुख्य पात्र हैं—नेमिकुमार। वे संसारी बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा की विकसित यात्रा तय करते हैं। पूर्वभवों की अनेक संज्ञाएँ लेखक द्वारा स्थिर की गई हैं। संज्ञाओं के उच्चारण में उदात्त भाव सम्पदा मुखर हो उठी है।

उपन्यास की कथा सम्वाद-प्रियता से गतिमान होती है। लेखक ने छोटे-छोटे सम्वादों को इस प्रकार उपन्यस्त किया है कि उनकी प्रभावना अतिरिक्त होती चलती है। यथा,

"पूछा उन्होंने किसी नागरिक से—"हे भद्र! हम परदेशी हैं। तुम्हारी नगरी में यह विशेष धूमधाम किस कारण से हो रही है?"

"अरे, आप लोगों को पता नहीं? कहाँ से आ रहे हैं आप?"

"बहुत दूर से! और हमें पता नहीं इस चहल-पहल का कारण। अब आप ही कृपया बतलाइए।"

"अरे महाशय! सानन्द ही सानन्द हैं। हमारी राजकुमारी जी का स्वयंवर होने वाला है। आपने देखा है हमारी राजकुमारी जी को?"

"कैसे देखते, हम परदेशी लोग आपकी राजकुमारी को? क्या वे बहुत सुन्दर हैं?"

"सुन्दर हैं? सौन्दर्य तो उनके चरण पखारता है और विद्या उन पर बलिहारी जाती है।"

"अच्छा! तब तो आपकी राजकुमारी जी सचमुच अद्भुत ही होनी चाहिए। धन्यवाद·····।"

उपन्यास का उद्देश्य इस बात पर निर्भर करता है कि उसका नायक

और नायिका का जीवन दृष्टिकोण क्या है ? नेमिकुमार उपन्यास के नायक हैं जो जागतिक जीवनचर्या से विरत होकर आध्यात्मिक जीवनचर्या की ओर प्रेरित होते हैं। नायक वह सारा कार्य करता है जो सर्वोदयी है। वैवाहिक संस्कार में दीक्षित होने की अपेक्षा वह आवागमन के चक्रमण से मुक्त्यर्थ गिरिनार के उत्तुंग शिखर पर चढ़ता है जहाँ साधना में सक्रिय होता है। यहाँ से उसकी आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। यथा,

"अडिग संकल्प के साथ त्याग के राजमार्ग पर आगे और आगे बढ़ते चले जाने वाले तथा अन्ततः जीवन-मरण से मुक्त परम सिद्ध-स्थिति तक पहुंचने वाले एक ऐसे ही परम-पुरुष की कथा आप सुनेंगे।"

उपन्यास के कथ्य और कथानक से देश और काल की अनुरूपता सर्वत्र परिलक्षित है। पात्र, उनकी भाषा और भेष तत्कालीन समाज सापेक्ष है। पूरी कृति में कहीं पर अन्यथा भाव देखने को नहीं मिलता। राजकुमार राजकीय स्तर से प्रदीक्षित हैं। देशकाल की अन्विति के कारण उपन्यास में स्वाभाविकता संचरित हो उठी है। इससे लेखक का उपन्यास कला का नैपुण्य प्रमाणित हो जाता है।

जहाँ तक विवेच्य उपन्यास की भाषा-शैली का प्रश्न है, लेखक ने द्विवेदी कालीन रचित आदर्शमुखी औपन्यासिक शैली को अपनाया है। कथारम्भ से पूर्व नांदी और सूत्रधार की नाईं पाठकों अथवा श्रोताओं को यह सूचित किया जाता है कि उपन्यास की कथा इस रूप में प्रस्तुत करने का प्रस्ताव है। राजकीय कथावृत्त होने से संदर्भित स्थलों पर शौर्य प्रदर्शनार्थ युद्धवर्णन भी द्रष्टव्य है। उपन्यास में इसके अतिरिक्त पत्रात्मक शैली का भी उपयोग किया गया है। यथा—

प्रिय मित्र चित्रगति,

मुझे तुम्हारी सहायता की एक बार पुनः आवश्यकता पड़ गई है।

....

तुम्हारा ही अभिन्न
सुमित्र,

प्रिय सुमित्र,

चिन्ता न करो।.....

तुम्हारा मित्र,
चित्रगति,

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि लेखक ने प्रस्तुत कृति में प्राचीन और आधुनिक औपन्यासिक शैलियों का मिला-जुला रूप अपनाया है।

उपन्यास की भाषा सधी हुई है। उसमें प्राञ्जल, तत्सम तथा परिष्कृत शब्दावलि का प्राधान्य है। उपन्यास कथा में गत्यात्मकता तथा सरसता उत्पन्न करने के लिए लेखक द्वारा मुहावरे तथा लोकोक्तियों का प्रयोग उल्लेखनीय ढंग से हुआ है।

यथा—पृष्ठ ३९ पर

"छठी का दूध याद दिलाना" "लेने के देने पड़ जाना" आदि।

भाषा-शैली के अतिरिक्त विशेषता है यत्र-तत्र सूक्तियों का सार्थ प्रयोग। यथा—

"प्रत्येक जीव का, प्रत्येक भव में एक निश्चित आयुष्य होता है।"

सूक्ति प्रयोग में सुधी लेखक के असाधारण भाषा-प्रयोग तथा चिन्तन प्रधान निष्कर्ष का परिचय प्राप्त हो जाता है।

विवेच्य उपन्यास कोई धर्मग्रन्थ नहीं है तथापि उसमें नसीहत का नवनीत सर्वत्र उपलब्ध है। पूरी कृति शुद्ध उपन्यास है तथापि उसका असर अनैतिक और गिरती हुई सामाजिक दुर्दशा जैसा नहीं है। "मुक्तिपथ" निस्सन्देह अद्भुत औपन्यासिक शैली में लिखा ग्रन्थराज है जिसमें आदर्श जीवन की यथार्थ भोगी हुई जिन्दगी का दस्तावेज व्यक्त है। कोई भी माता-पिता, कोई भी भाई-बहिन, कोई भी अध्यापक-शिष्य, कोई भी मित्र-प्रतिमित्र इस कृति को परस्पर पढ़ने के लिए भेंट कर सकता है और परिणाम होगा—उन्मार्ग से हटकर सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा और प्रोत्साहन की प्राप्ति।

इतनी सुष्ठु और सुन्दर कृति के लेखन और प्रकाशन के लिए लेखक और प्रकाशक वस्तुतः बधाई की सुपात्रता रखते हैं। इत्यलम्।

विद्यावारिधि डॉ० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्
(निदेशक : जैन शोध अकादमी)

मंगलकलश
३९४, सर्वोदय नगर
आगरा रोड, अलीगढ़
दूरभाष : २६४८६

मुक्तिपथ

लेखक
उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय का २८२वां पुष्प

मुक्तिपथ
[भगवान अरिष्टनेमि एवं वासुदेव श्रीकृष्ण के जीवन वृत्त पर रोचक उपन्यास]

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

प्रथमावृत्ति
वि. सं. २०४७, फाल्गुन
ईस्वी सन् १९९१, फरवरी

प्रकाशक-प्राप्तिस्थान
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज.) ३१३००१

मुद्रक
संजय सुराना के लिए
प्रमोद कुमार जैन द्वारा
बी० एल० प्रिंटर्स, आगरा
में मुद्रित

लागत मूल्य सोलह रुपया
विक्री मूल्य बीस रुपया मात्र

मुक्तिपथ

[संकेत]

हरि अनन्त हैं, और हरि-कथा भी।

किन्तु अन्य कथाएँ भी हैं जिनका कहीं कोई अन्त नहीं।

मानव का पुरुषार्थ अपने पीछे-पीछे एक ऐसी कथा छोड़ता चलता है कि जो काल के किसी छोर पर भी समाप्त हुई नहीं दीखती। सर्वग्राही, सर्वग्रासी काल के वज्र-कठोर आघात भी ऐसी पुरुषार्थ-कथाओं से हार ही मानते हैं।

काल आगे-आगे बढ़ता है।

मानव-पुरुषार्थ की वे अमर कथाएँ काल से भी आगे-आगे ही चलती हैं।

पुरुष है तो पुरुषार्थ भी है ही।

किन्तु वह पुरुषार्थ कभी-कभी अदृश्य हो जाता है, सो जाता है, या खो जाता है।

उसे खोजना होता है। उसे जगाना पड़ता है।

त्रिकाल में से भी उसे ढूंढ निकालना ही पड़ेगा।

परम पुरुषार्थ की यह खोज सरल तो नहीं है।

किन्तु जो कठिन है वही यदि मनुष्य न कर पाया तो फिर उसने मानव जन्म प्राप्त करके किया क्या?

और यदि विवेक जागृत हो तो स्पष्ट दीख पड़ेगा कि कठिन इस जीवन में कुछ है ही नहीं। मनुष्य-मन की गति जितनी तीव्र है, उससे अनन्त गुनी शक्ति मन के संकल्प में है।

यह रहस्य जान लेना चाहिए। इस रहस्य को जो जान लेता है वह काल को जीतकर, कालजयी बनकर अपने पुरुषार्थ को उस उच्चतम श्रेणी तक ले जाता है जहाँ जीवन के समस्त द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं।

वह जो एक स्थिति आती है वह सिद्ध स्थिति होती है।

उस स्थिति में मानव-पुरुषार्थ की कथा कालातीत, अनन्त हो जाती है।

परम पुरुषों की ये पुरुषार्थ-कथाएँ अनन्त काल तक, अनन्त प्राणियों को ज्ञान का ऐसा अजस्र आलोक प्रदान करती रहती हैं जिसके सहारे उनका भव-भव का अन्धकार-भ्रमण समाप्त हो सकता है।

परम पुरुषार्थ का यह पहला चरण जीव मात्र के प्रति प्रेम तथा सर्वस्व के त्याग की महत् भावना से आरम्भ होता है।

अडिग संकल्प के साथ त्याग के राजमार्ग पर आगे और आगे बढ़ते चले जाने वाले तथा अन्ततः जीवन-मरण से मुक्त परम सिद्ध-स्थिति तक पहुँचने वाले एक ऐसे ही परम-पुरुष की कथा आप सुनेंगे ?

हम उन्हें भगवान् अरिष्टनेमि के रूप में जानते हैं।

भगवान् की कल्पना, प्रभु के चिन्तन, ईश्वर-दर्शन तक पहुँचने से पूर्व एक लम्बी यात्रा करनी पड़ेगी आदमी को।

मुझे भी।

आपको भी।

उन सभी को, जो चाहते हैं कि उनका जीवन सार्थक हो। अकारथ ही न चला जाय यह मानव-भव, जो बड़ी मुश्किल से मिला है—कितने-कितने जन्म, कितनी-कितनी योनियों को भुगत कर।

मुक्तिपथ की इस महायात्रा पर आप चलेंगे मेरे साथ ?

तो आइये, लिए चलता हूँ.... ....

[१]

असंग अनिच्छा भाव से ही सही, किन्तु प्रेमालु तथा आदरणीय स्वजनों का मान और आग्रह रखने के लिए बारात सजाकर आये अरिष्ट-नेमि ने जब देखा कि ये जो पशु आर्त्तनाद कर रहे हैं, इनका वध किया जायगा, इसलिए कि भूखे आदमी का पेट भरा जा सके, तो उन्होंने विचार किया—ऐसी, इतनी राक्षसी भूख कहाँ से आ गई आदमी में ? शरीर-धर्म निर्वाह हेतु भोजन तो चाहिए, किन्तु वह भोजन क्या किसी अन्य प्राणी के प्राण लेकर ही प्राप्त होगा ?

अरिष्टनेमि की आत्मा सुलग उठी।

एक ऐसी अग्नि प्रज्वलित हुई कि उसमें इन्द्रियजन्य समस्त कषाय एकाएक, पल भर में जलकर भस्म हो गए।

और जब अज्ञान तथा अन्धकार का धूम्र विलीन हुआ तब उनकी आत्मा के भीतर और बाहर केवल प्रकाश था, प्रेम था, शान्ति थी, करुणा थी—आत्मा थी, केवल शुद्धता और पवित्रता में डूबी एक असंग आत्मा।

"गजराज को लौटा लो, सारथि !"

"प्रभु !"

"गजराज को लौटा लो, सारथि !"—अरिष्टनेमि ने दृढ़तापूर्वक कहा।

गजराज थमा, फिर लौट भी चला।

तब सारथि ने पूछा—

"आज्ञा, प्रभु ! दिशा·····?"

"सभी दिशाएँ, समान हैं, सारथि !"

"प्रभु ! मैं समझा नहीं·····।"

"अभी तो इतना ही समझ लो कि जिस दिशा में हम चले थे वह हमारी दिशा नहीं थी, अरिष्टनेमि की दिशा नहीं थी। चलो, लौटकर चलते चलो। नगर से बाहर····कहीं भी —एकान्त में।"

उफनते यौवन के मदहोश बना देने वाले उस समय में वह युवक, अरिष्टनेमि था जिसका नाम, अपने राजसी वस्त्रों को उतार फेंकता, अलंकारों को धूलिवत् बिखेरता चल पड़ा जंगल की ओर, एकान्त में।

उस एकान्त ने अरिष्टनेमि को राजकुमार अरिष्टनेमि से भगवान् अरिष्टनेमि बना दिया।

किन्तु इतनी जल्दी ?

नहीं, प्रिय पाठकगण, उस एकान्त साधना की कथा तो अभी आपको मुझसे सुननी शेष है।

आपका धैर्य समाप्त तो नहीं हो रहा ?

सुनिए.....

× × ×

किन्तु उधर तो कुहराम मच गया।

क्या हो गया यह ? राजकुमार, दूल्हा राजा, एकाएक कहाँ चल दिये इस प्रकार ? बारात लौट गई।

और राजुल ?

वह राजुल जो अरिष्टनेमि की माला जपा करती थी सोते-जागते, जो राजमहल के गवाक्ष से अपनी सखी-सहेलियों से घिरी, उल्लास-उन्माद आह्लाद में डूबी, बावरी-सी निरख रही थी अपने जन्म-जन्मान्तर के आराध्य को दूल्हा बने पधारते,.....उस पर क्या बीती ?

मूर्च्छित होकर वह भूमि पर ही गिर पड़ी होती यदि उसकी सखी-सहेलियों ने उसे हाथों में थाम न लिया होता तो।

मूर्च्छित राजुल।

अवाक्, दुःखी उसके माँ-बाप !

एक जो कुहराम उठा था कि क्या हुआ, क्या हो गया ? वह अब एक गहन चिन्ता और अवसाद के शून्य में परिवर्तित हो गया था।

फिर राजा-रानी दौड़े। सामन्त-सेनापति भागे। श्रेष्ठि-सज्जन चले।

सभी तो आये।

स्वयं श्रीकृष्ण भी।

किन्तु जाने वाला कभी लौटा है ?

जाग जाने पर फिर सोना क्या ?

अरिष्टोमि उन्हीं परम पुरुषों में से थे जो जागकर फिर कभी सोते नहीं।

सभी को अरिष्टनेमि का उत्तर एक ही था—

"सर्वमंगल का मार्ग एक ही है। यही है। आप लौटें। विचार करें। धर्मलाभ प्राप्त करें।"

× × ×

लौटना हमें भी पड़ेगा, प्रिय पाठकगण ! यह जानने के लिए कि वह जो एक राजकुमार था अरिष्टनेमि सो कैसे पहुँचा इस स्थिति तक जहाँ तक पहुँच जाने पर जन्म-मरण का चक्र थम जाता है।

इस चक्र को चलते तो बीते थे जन्म-जन्मान्तर। किन्तु मैं आपको यह कथा कहूँगा संक्षेप में। आप तो ज्ञानी हैं। संक्षेप में कहूँगा, सूत्र में बोलूँगा तो भी मर्म को तो आप ग्रहण कर ही लेंगे।

× × ×

अरिष्टनेमि के इस जन्म की नहीं, कुछ पिछले जन्म की कथा है यह—

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अचलपुर नामक एक विशाल नगरी थी। वहाँ राजा विक्रमधन राज्य करता था। उसकी रानी का नाम था धारिणी। राजा और रानी दोनों ही उत्तम गुणों से युक्त थे। धार्मिक आचरण था उनका तथा स्वभाव मृदुल और स्नेहशील। अन्य अनेक अथवा अधिकांश नरेशों की भाँति राजा विक्रमधन न तो अहंकारी थे, न दुराचारी। अपनी प्रजा का पालन वे परिश्रमपूर्वक, प्रेमपूर्वक, पुत्रवत् ही करते थे।

उनकी अर्धांगिनी, रानी धारिणी भी अपने नाम को सार्थक करती थी। गृहस्थधर्म तथा प्रजापालन के पुनीत धर्म को वह हृदय में धारण करती हुई कालयापन करती थी।

समय सुखपूर्वक व्यतीत होते-होते एक शुभ रात्रि के चतुर्थ प्रहर में उस रानी धारिणी ने एक बड़ा ही मनोहर, चामत्कारिक स्वप्न देखा। उसने देखा—ऋतु बड़ी मनोहारिणी है। समीर शीतल, मन्द तथा सुवासित है। आम्रवृक्ष झूम-झूमकर मानो किसी अशब्द संगीत का प्रसारण कर रहे हैं। भाँति-भाँति के पक्षी मधुर कलरव-गान में मग्न हैं।

और आम्रवृक्षों पर आई हुई मंजरियों का तो कहना ही क्या ? उनका सौरभ तो मन को बेभान-सा ही किये देता था। भ्रमर उन मंजरियों पर टूटे पड़ते थे। वन-प्रांतर कोकिल की मधुर पंचम स्वर-ध्वनि से गूंज रहा था।

ऐसे समय में जाने कौन एक तेजस्वी पुरुष प्रकट हुआ और एक फूला-फला आम्रवृक्ष लाकर रानी धारिणी के आँगन में रोपते हुए बोला—

"यह विशिष्ट आम्रवृक्ष आज यहाँ रोपा जा रहा है। इसी प्रकार यह भविष्य में नौ बार विभिन्न स्थानों पर रोपा जायगा।"

रानी धारिणी चौंककर जाग पड़ी। उसे वह स्वप्न प्रिय भी लगा, विस्मयजनक भी। और फिर उस तेजस्वी पुरुष का कथन तो और भी आश्चर्यजनक, रहस्यपूर्ण-सा प्रतीत हुआ। वह सोचने लगी—यह कैसा स्वप्न है ? इसका क्या कोई अर्थ है ? अर्थ है तो फिर वह क्या हो सकता है ?

वह ज्ञानवान नारी थी। विचार किया उसने कि निरर्थक तो सृष्टि में कुछ भी नहीं है, जो भी कुछ, जहाँ भी है इस अनन्त जगत में वह सभी कुछ किसी-न-किसी सन्दर्भ में, कहीं-न-कहीं सार्थक है।

तो इस अद्भुत स्वप्न का भी कोई विशेष अर्थ अवश्य है। कोई-न-कोई प्रयोजन है, जिसे जानना चाहिये।

प्रातःकाल राजा के जागने पर उसने उन्हें वह स्वप्न सुनाया और पूछा—"आप क्या सोचते हैं ? क्या अर्थ होगा इस स्वप्न का ?"

राजा कुछ विचार में पड़ गया। सोचने लगा—स्वप्न रात्रि के चतुर्थ प्रहर में आया है, एक बात। दूसरी बात यह कि स्वप्न में जो कुछ दिखाई दिया, वह सब शुभ ही है, तो यह स्वप्न किसी-न-किसी शुभ का सूचक तो अवश्य ही है। किन्तु अब इसका अर्थ क्या ? क्या होना चाहिये ?

राजा गुणी था। किन्तु उसने स्वप्न विज्ञान का अध्ययन तो किया नहीं था। अतः वह बोला—

"प्रिये ! अर्थ तो मैं जान नहीं सकता, जैसे तुम नहीं जान पा रही हो। किन्तु इतना मुझे लगता है कि यह स्वप्न बड़ा ही शुभ है। कोई-न-कोई शुभ प्रसंग उपस्थित होने वाला है हमारे जीवन में, इतना मुझे आभास होता है। ऐसा करते हैं कि आज राज्यसभा में अपने राज्य के विशिष्ट स्वप्नशास्त्रियों को आमन्त्रित करते हैं। उनसे पूछेंगे। वे ही बता सकेंगे कि इस स्वप्न का अर्थ क्या है ?"

"हाँ, महाराज ! ऐसा ही करना उचित होगा। जब से यह स्वप्न मैंने देखा है, मुझे बड़ी उत्सुकता है यह जानने की कि यह विचित्र स्वप्न क्या सूचित करता है।" रानी ने कहा।

"ठीक है, मैं व्यवस्था किये देता हूँ।"

राजा ने राज्यसभा तथा स्वप्न-विशेषज्ञों को आमन्त्रित कर दिया।

राज्यसभा में जब स्वप्न-विशेषज्ञ उपस्थित हुए तो अन्य सभी राज्य-अधिकारियों को भी कुतूहल जागा कि आज महाराज ने विशेष रूप से स्वप्नशास्त्रियों को कैसे बुलाया है ? कोई विशेष बात होनी चाहिये।

सभा में उपस्थित भद्रजन इन्हीं विचारों में डूबे थे कि उद्घोषक ने महाराज विक्रमधन के सभा-भवन में पधारने की सूचना दी।

सभागार में मौन छा गया।

वहाँ उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने स्थान पर शान्त, ससम्मान खड़ा हो गया।

राजा विक्रमधन पधारे, उन्होंने आसन ग्रहण किया तथा जय-जय-कार की समाप्ति के पश्चात् उन्होंने अपने धीर-गम्भीर स्वर में कहा—

"भद्रजन ! आज एक विशेष बात है। महारानी धारिणी देवी ने आज रात्रि के चतुर्थ प्रहर में एक विशिष्ट स्वप्न देखा है। वह स्वप्न क्या सूचित करता है यह हम जानना चाहते हैं। इसी हेतु हमने आज अपने राज्य के विशिष्ट विद्वान स्वप्नज्ञानियों को इस सभा में आमन्त्रित किया है।"

इसके पश्चात् महाराज विक्रमधन ने वह स्वप्न आदि से अन्त तक बताकर पूछा—

"महारानी ने अपने आँगन में उस दिव्य पुरुष द्वारा वह सुन्दर आम्रवृक्ष रोपा जाता हुआ देखा और उसका कथन सुना कि यह आम्रवृक्ष भविष्य में, विभिन्न काल में नौ स्थानों पर रोपा जायगा। तो इसका आशय क्या हो सकता है ? आप लोग स्वप्नशास्त्र के विशेषज्ञ हैं, ज्ञानी हैं। कृपया बताइये।"

स्वप्नशास्त्र में निष्णात विद्वान स्वप्नशास्त्रियों ने परस्पर विचार-विमर्श के पश्चात् एकमत होकर विनीत शब्दों में उत्तर दिया—

"महाराज की जय हो ! आपका यश दसों दिशाओं में फैले। महा-

रानीजी ने यह जो स्वप्न देखा है वह अत्यन्त शुभ है। हम सभी इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यह शुभ स्वप्न इस बात का संकेत देता है कि महादेवी की कोख से एक ऐसे महापुरुष का जन्म होगा जो समय आने पर शुभ कर्मों के प्रभाव से समस्त जन को शान्ति और सुख प्रदान करने वाला होगा तथा जिसका सुयश किसी भी सीमा के बन्धन में बँधकर नहीं रह जायेगा।"

यह सुनकर न केवल महाराज विक्रमधन, अपितु सभा में उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति हर्ष के सागर में अवगाहन कर उठा।

कुछ पलों तक इस भविष्य-कथन का असीम आनन्द अपने हृदय में अनुभव कर लेने के पश्चात् महाराज विक्रमधन ने पुनः स्वप्नशास्त्रियों से पूछा—

"आप विद्वानों ने जो कुछ अभी बताया है उसे जानकर मुझे बहुत हर्ष है। किन्तु एक प्रश्न फिर भी अनुत्तरित ही रह गया है और वह यह है कि वह आम्रवृक्ष विभिन्न स्थलों पर नौ बार रोपा जाएगा इसका अभिप्राय क्या है ?"

महाराज के इस प्रश्न के उत्तर में स्वप्नशास्त्रियों के अग्रणी ने अपने दोनों हाथ जोड़कर कहा—

"महाराज ! हम लोग अपने ज्ञान से जितना जान सके, वह हमने निवेदित कर दिया है। किन्तु जो कुछ शेष रह गया है, वहाँ तक हमारा अल्पज्ञान पहुँच नहीं पा रहा है। क्षमा प्रदान कीजिए। किन्तु हमें विश्वास है कि आपके इस अनुत्तरित प्रश्न का उत्तर कोई ज्ञानी जैन मुनि अवश्य प्रदान कर सकेंगे।"

इस स्पष्टोक्ति से महाराज विक्रमधन बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने समादरपूर्वक समस्त स्वप्नशास्त्रियों को विदा किया तथा उस शुभ दिन की वह राजसभा समाप्त हुई।

दिन बीतते चले गए। एक के पश्चात् दूसरा मास आया और गया। इस प्रकार नव मास व्यतीत हो जाने पर महारानी धारिणी ने शुभ घड़ी में एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। नवजात शिशु देखने में ही बहुत सुन्दर था। उसे पाकर राजा रानी के आनन्द की कोई सीमा न रही। वे बहुत प्रसन्न थे। सुन्दर और स्वप्न शास्त्रियों के कथनानुसार एक उत्तम पुत्र की प्राप्ति के परिणामस्वरूप महाराज विक्रमधन ने अपने राजकोष को उन्मुक्त कर दिया। अपने राज्य में निवास करने वाले प्रत्येक ऐसे व्यक्ति

को उन्होंने मुक्त हस्त से प्रचुर दान दिया जिसे कि धन-धान्य की तनिक भी आवश्यकता थी। अभाव से ग्रस्त प्रत्येक व्यक्ति एक ही दिन में राजा की उदारता से निहाल हो गया तथा अपने राजा-रानी का गुणगान करता हुआ प्रभु से प्रार्थना करने लगा कि नवजात राजकुमार दीर्घायु हो, यशस्वी बने।

राजा-रानी ने अपने पुत्र का नाम रखा धनकुमार। वह चन्द्रमा की कलाओं के समान धीरे-धीरे विकास पाने लगा। ज्यों-ज्यों वह आयु में बढ़ता गया, त्यों-त्यों उसका शारीरिक विकास भी होता गया, उसका सौन्दर्य भी बढ़ता गया तथा उसके गुण भी निरन्तर वृद्धि पाने लगे। योग्य आचार्यों की देख-रेख में उसका प्रशिक्षण भी नियमित रूप से चलता रहा।

होते-होते राजकुमार धनकुमार एक सुदर्शन सर्वगुणसम्पन्न युवक हो गया। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश पृथ्वी के ओर-छोर तक फैल जाता है, उसी प्रकार धनकुमार की कीर्ति भी चारों दिशाओं में, एक राज्य से दूसरे राज्य तक फैलने लगी।

× × × ×

उस काल में भरतखण्ड में एक अन्य नगरी थी, कुसुमपुर। उस नगरी में सिंह नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पुत्री का नाम था धनवती। वह राजकुमारी भी बहुत सुन्दर और गुणवती थी। उसके रूप-गुण की चर्चा और प्रशंसा दूर-दूर तक फैल गई थी।

एक दिन राजा सिंह के दरबार में किसी सुदूर देश का एक चित्रकार उपस्थित हुआ। उसने राजा को एक चित्र भेंट किया। उस चित्र को देख-कर राजा सिंह बहुत आकर्षित हुआ। उसने चित्रकार से पूछा—

"चित्र बहुत सुन्दर है। इसका आलेख करने में आपने बड़ी निपुणता प्रकट की है। किसका चित्र है यह ?"

"महाराज ! यह चित्र अचलपुर के युवराज धनकुमार का है।"

"धनकुमार ! उसकी तो बहुत प्रशंसा सुनने में आ रही है आजकल। क्या आप अचलपुर के निवासी हैं ?"

"नहीं राजन् ! मैं निवासी तो दक्षिण भारत का हूँ। किन्तु अपने चित्रांकन तथा जीविकोपार्जन के क्रम में एक देश से दूसरे देश का भ्रमण करता रहता हूँ। इस समय अचलपुर से ही चला आ रहा हूँ।"

"आपने यह चित्र क्यों बनाया ?"

"मैं विवश हो गया था महाराज ! अचलपुर में अपने निवास के समय जब मैंने युवराज धनकुमार को देखा तो मैं विस्मित रह गया। ऐसा सुदर्शन युवक मैंने इससे पूर्व अन्यत्र कहीं देखा नहीं था। अतः उसका चित्र अंकित करने के लोभ का संवरण मैं नहीं कर सका महाराज !

"यथार्थ है। किन्तु यह बताइये कि क्या राजकुमार धनकुमार वास्तव में इतने ही सुदर्शन हैं जितने कि इस चित्र में दिखाई देते हैं अथवा यह आपकी कला का कौशल है ?"

"महाराज ! राजकुमार धनकुमार इससे भी अधिक सुन्दर हैं। मैं उनकी रूपछवि को अपनी तूलिका से पूरी तरह तो बाँध ही नहीं सका।"

"सचमुच ?"—कहकर राजा सिंह कुछ पलों तक मौन रहकर उस चित्र को देखते रहे और फिर बोले—

"अच्छा, यह बताइये कि क्या राजकुमार धनकुमार गुणवान एवं विद्यावान भी है ?"

"महाराज ! मेरे उत्तर को आप अतिशयोक्ति न मानें तो निवेदन करना चाहूँगा कि इस समय भरतक्षेत्र में राजकुमार धनकुमार जैसा सर्व-गुण सम्पन्न युवक अन्य कोई नहीं है। मैं तो एक प्रवासी कलाकार हूँ। यहाँ-वहाँ घूमता और देखता रहता हूँ। अनेक सुन्दर एवं गुणी राजकुमार मैंने देखे हैं, किंतु राजकुमार धनकुमार अद्वितीय हैं।"

"आह ! सुना तो हमने भी ऐसा ही है। आपके कथन से इसकी पुष्टि ही होती है। अच्छा, अब आप विश्राम कीजिए। कुछ दिन आप कुसुमपुर में ही ठहरिएगा, हमारे अतिथि बनकर।"

"जो आज्ञा, महाराज !"

"मन्त्रिवर ! इन कलाचार्य महोदय को अतिथिशाला में ठहरने की व्यवस्था करा दीजिएगा।" राजा सिंह ने अपने मन्त्री को आदेश दिया।

"जो आज्ञा, महाराज !" कहकर मंत्री ने अतिथिगृह के व्यवस्थापक को संकेत किया और वह चित्रकार को लेकर अतिथिशाला की ओर चला गया।

राजसभा से निवृत्त होकर सिंहराज अपनी महारानी के पास अन्तः-पुर में पहुँचे और धनकुमार का चित्र उन्हें दिखाकर बोले—

"महारानी ! यह चित्र देखो। अचलपुर के राजकुमार धनकुमार का यह चित्र है। सुन्दर है न ?"

रानी ने वह चित्र देखा और प्रशंसा करते हुए उत्तर दिया—

"महाराज, चित्र तो वास्तव में बहुत सुन्दर है। कौन लाया है ?"

"आया है एक चित्रकार घूमता-फिरता। कहता है कि राजकुमार धनकुमार वास्तव में तो इस चित्र से भी कहीं अधिक सुन्दर है। उसके रूप-गुणों की प्रशंसा तो तुमने भी सुन ही रखी है न ?"

"हाँ, सुनी तो है।"

"तब क्या विचार है ?"

"अर्थात् ।"

"नहीं समझीं ? क्या अपनी बेटी को जन्म-भर कुंवारी रखने का इरादा है ?"

"ओह महाराज ! सच कहूँ तो आपने मेरे मन की बात ही कह डाली। यह चित्र देखते ही मेरे मन में भी यह विचार क्षणमात्र में ही कौंध गया था कि यदि अपनी बेटी धनवती का विवाह इस राजकुमार से हो जाता तो कितना अच्छा होता !"

"हूँ, तब ठीक है। कहो तो प्रस्ताव भेजूं ?"

"अवश्य। यदि प्रभु ने चाहा तो सफलता मिलेगी।"

अपनी रानी की सहमति प्राप्त कर सिंहराज ने उस चित्रकार से अपनी पुत्री राजकुमारी धनवती का एक चित्र बनवाया। चित्र जब पूर्ण हो गया, तब उन्होंने अपने राजपुरोहित को आज्ञा दी—

"पुरोहित जी, आप राजकुमारी का यह चित्र लेकर अचलपुर चले जाइए। महाराज विक्रमधन से सविनय प्रार्थना कीजिए कि वे राजकुमार धनकुमार से राजकुमारी धनवती के सम्बन्ध का हमारा प्रस्ताव स्वीकार करें। जहाँ तक राजकुमारी के रूप का प्रश्न है, वह तो इस चित्र से प्राप्त हो जायगा। किन्तु जहाँ तक उसके गुणों का सम्बन्ध है, उस विषय में आप महाराज विक्रमधन को ठीक से बता दीजिएगा।"

"अवश्य महाराज ! अवश्य। हमारी राजकुमारी लाखों में एक है। राजकुमार धनकुमार तथा राजकुमारी धनवती की जोड़ी सूर्य और चंद्रमा की भाँति सुशोभित होगी।" पुरोहित ने कहा।

"हमारा भी ऐसा ही विचार है। भगवान करे यह सम्बन्ध निश्चित

हो जाय। बेटी के हाथ पीले हो जायँ, उसे सुयोग्य वर की प्राप्ति हो जाय तो हम निश्चिन्त हों।"

"आप निश्चिन्त हो रहें महाराज! ऐसी गुणवती तथा रूपवती कन्या के लिए चिन्ता कैसी ?"

"अरे पुरोहित जी, पिता का हृदय है। कितना भी हो, जब तक बेटी को सब प्रकार से सुखी नहीं देख लेता, शान्त नहीं हो पाता। खैर, अब आप शीघ्र प्रस्थान की तैयारी कीजिए।"

"जो आज्ञा महाराज! मैं आज ही प्रस्थान करता हूँ। शुभ दिन है आज। आप तो विवाह की तैयारियाँ कीजिए। मुझे निश्चय है कि कार्य सिद्ध होगा। प्रत्येक संकेत यही सूचित करता है।"

"ठीक है पुरोहित जी, आपके मुख में घी-शक्कर। जाइए और शीघ्र लौटकर आइये।"—महाराज ने कहा और पुरोहित को विदा किया।

उसके बाद सिंहराज ने धनकुमार का चित्र अपनी बेटी को दिखाकर उसका अभिप्राय जानना चाहा तो वह लजाकर भीतर भाग गई। राजा ने उसे फिर से अपने पास बुलाया और कहा—

"बेटी, लजाने की आवश्यकता नहीं। यह तुम्हारे भविष्य का प्रश्न है। निस्संकोच होकर अपना अभिप्राय हमें कहो।"

"पिताजी....."

"हाँ हाँ, कहो बेटी, क्या तुम्हें धनकुमार पसन्द है ?"

"जैसी आपकी तथा माता जी की इच्छा।"—इतना ही कहकर वह सुशीला, सुसंस्कृता राजकुमारी फिर से भीतर भाग गई।

महाराज सिंह ने इसे बेटी की स्वीकृति समझ लिया और अब वे अपने पुरोहित के अचलपुर से लौटने की प्रतीक्षा बड़ी उत्कंठा से करने लगे।

उधर अचलपुर की राजसभा में पहुँचकर कुसुमपुर के राजपुरोहित ने विधिपूर्वक, सविनय राजकुमारी धनवती का चित्र महाराज विक्रमधन के कर-कमलों में रखते हुए निवेदन किया—

"महाराज! आपका यश अमर हो। मैं कुसुमपुर का राजपुरोहित

अपने महाराज सिंहराज की ओर से आपसे सविनय प्रार्थना करता हूँ कि आप हमारी राजकुमारी का हाथ अपने राजकुमार धनकुमार के लिए स्वीकार करें।"

"विराजिए, पुरोहित जी, आसन ग्रहण कीजिए। आपका प्रस्ताव प्रसन्नता प्रदान करने वाला है। राजकुमारी का यह चित्र प्रदर्शित करता है कि वह अत्यन्त रूपवती है।"

"महाराज ! राजकुमारी का यह रूप तो बाह्य रूप है। उसका आन्तरिक सौन्दर्य तो उसके गुणों में समाहित है।"

"अच्छा ! बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आपकी राजकुमारी जितनी सुन्दर है उतनी ही गुणवती भी है, जैसा कि आप कह रहे हैं.....।"

"ब्राह्मण हूँ, महाराज ! असत्य वचन कभी कहा नहीं।"

"ठीक है पुरोहित जी, हमें आपके वचनों पर विश्वास है। आप कुछ दिन तो हमारा आतिथ्य स्वीकार करेंगे न ?"

"यह मेरा सौभाग्य होता महाराज ! किन्तु आप तो विज्ञ पुरुष हैं। समझ सकते हैं कि एक कन्या के पिता को उसके विवाह की कितनी चिन्ता होती है। हमारे महाराज आपके उत्तर की बहुत उत्कंठा से प्रतीक्षा कर रहे होंगे। मुझे शीघ्र ही लौटना चाहिए।"

"हाँ, यह तो ठीक है। फिर भी एक-दो दिन तो विश्राम कीजिए। तब तक धनकुमार भी लौट आएगा।"

"क्या राजकुमार कहीं बाहर गए हैं महाराज ?"

"अरे पुरोहित जी, उसे चैन कहाँ ? सारे राज्य में घूमता-फिरता है। कहता है कि अपनी प्रजा के सुख-दुःख का ध्यान राजा को अहर्निश रखना चाहिए। मुझे उपदेश देता है.....।" कहकर राजा विक्रमधन आनन्दपूर्वक हँस पड़े। उनकी हँसी में अपने सुयोग्य, गुणी पुत्र के आदर्श आचरण के ज्ञान का पूर्ण सन्तोष था। शायद गर्व भी था.....क्यों न हो, एक आदर्श पिता को अपने आदर्श पुत्र के प्रति गर्व ?

कुसुमपुर के राजपुरोहित के आतिथ्य की समुचित व्यवस्था कर दी गई। आशा ही नहीं, विश्वास के साथ भी वे राजकुमार धनकुमार के आगमन तथा उनके निर्णय की प्रतीक्षा करने लगे।

और उनकी आशा पूर्ण हुई। उनका विश्वास सत्य सिद्ध हुआ।

दो दिन के बाद राजपुरोहित प्रसन्नता में डूबे अपना रथ कुसुमपुर की ओर दौड़ाए चले जा रहे थे। वे सोच रहे थे कि कब कुसुमपुर पहुंचूं और कब अपने महाराज सिंह को शुभ सूचना दूं कि महाराज विक्रमधन ने राजकुमारी धनवती का हाथ राजकुमार धनकुमार के लिए स्वीकार कर लिया है।

\+ + + +

संस्कार प्रबल होते हैं।

संस्कार थे कि धनकुमार तथा धनवती की दो पुण्यशाली आत्माओं को इस भव में एक-दूसरे का साथ देना था।

संस्कार थे कि उन दो पुण्यवान आत्माओं को भविष्य में भी कुछ भवों में एक साथ मिलकर जीवन के उच्च सोपानों पर ऊपर से ऊपर चढ़ते चले जाना था।

शुभ दिवस, शुभ घड़ी में धनकुमार तथा धनवती का विवाह सम्पन्न हुआ और दोनों पक्षों में आनन्द की स्थिति व्याप्त हो गई। काल सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा। एक आदर्श दाम्पत्य जीवन को देखकर दोनों राज्यों की प्रजा भी अपने भाग्य को सराहती रही।

एक दिन धनकुमार अपने अश्व पर आरूढ़ हो भ्रमण के लिए नगर से बाहर निकला। जाने क्यों उस दिन वह सीधा जंगल की ओर न जाकर अपने विशाल राजोद्यान की ओर ही मुड़ गया। कोई अज्ञात प्रेरणा थी कि वह बिना किसी विशेष विचार के ही, स्वतः ही उद्यान में चला आया। उसे ऐसा अनुभव हुआ कि कोई अज्ञात शक्ति उसे आज उद्यान में खींचे लिए चली जा रही है।

उद्यान में जाकर उसने देखा कि एक जैन मुनि एक वृक्ष की शीतल छाया में विराजमान हैं। उनके नव्य-भव्य मुखमण्डल पर ज्ञान और तप का अपूर्व तेज छाया हुआ है। उनकी उपस्थिति मात्र से वातावरण में अद्-भुत शान्ति व्याप्त है।

धनकुमार को अपनी अन्तःप्रेरणा का कारण ज्ञात हो गया। वह प्रसन्न हो गया और अश्व से उतरकर उन मुनिवर के समीप पहुँचा। सम्पूर्ण विनय एवं विधिपूर्वक उसने मुनिवर को वन्दन किया और ज्ञानलाभ की प्राप्ति हेतु उनके चरणों में बैठ गया।

उसी समय उद्यान-पालकों से सूचना पाकर महाराज विक्रमधन तथा महारानी धारिणी भी धनवती तथा अन्य परिजन के साथ मुनिदर्शन हेतु वहाँ पहुँच गए। सभी के हृदय में आनन्द का सागर लहरा रहा था।

ज्ञानी मुनिवर ने उपस्थित जन-समूह को श्रेष्ठ धर्मोपदेश प्रदान किया। तदुपरान्त महाराज विक्रमधन ने उचित अवसर जानकर मुनिवर से प्रश्न किया—

"पूज्य मुनिवर ! आज्ञा हो तो एक जिज्ञासा आपश्री के समक्ष रखूँ ?"

"कहें, राजन् ! क्या जिज्ञासा है ?'—मुनिवर ने मन्द स्मित सहित कहा।

"भगवन् ! यह धनकुमार जब अपनी माता के गर्भ में आया था, तब उसकी माता ने स्वप्न में देखा था कि इसके आँगन में एक फला-फूला आम्रवृक्ष रोपा गया है। किसी दिव्य पुरुष ने यह कथन भी उस समय किया था कि वह आम्रवृक्ष इसी प्रकार विभिन्न स्थानों पर नौ बार रोपा जायगा इस कथन का क्या अभिप्राय है, यह मैंने अनेक स्वप्नशास्त्रियों द्वारा जानना चाहा, किन्तु कोई भी बता न सका। आप कृपया बताइए।"

राजा का यह कथन सुनकर चतुर्ज्ञानधारी मुनिवर ने कुछ पलों के लिए अपने नेत्र मूँद लिए। सम्यक्ज्ञान के लाभार्थ उन्होंने अपनी मनःशक्ति द्वारा दूरस्थित एक केवलज्ञानी मुनिवर से इसका तात्पर्य पूछा। केवलज्ञानी मुनिवर ने उन्हें भगवान अरिष्टनेमि के नव भवों का वृत्तान्त बता दिया।

तब वह सारा वृत्तान्त अपने मनःपर्यवज्ञान तथा अवधिज्ञान से उन मुनिवर ने राजा को बताकर कहा—

"आप धन्य हैं, राजन् ! आपका यह पुत्र धनकुमार कुल मिलाकर नव बार जन्म लेगा। प्रत्येक जन्म में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करते हुए यह अपने नवें भव में यदुवंश में जन्म लेकर अरिष्टनेमि के नाम से बाईसवाँ तीर्थंकर होगा।"

मुनिराज के ये वचन सुनकर राजा-रानी सहित समस्त उपस्थित जन-समूह के हर्ष का कोई पारावार न रहा। उन सभी को जैन धर्म में आस्था थी। वह आस्था अब और प्रगाढ़ हो गई।

इसी प्रगाढ़ आस्था को हृदय में धारण कर, मुनिवर को सादर वंदन कर वे सभी लोग आनन्दित होते हुए निजधाम को लौटे।

किसी एक स्थान पर अधिक समय तक न ठहरने वाले मुनिवर अन्यत्र विहार कर गये।

धनकुमार और धनवती की जीवन नैया धर्म के आधार से आगे से आगे सन्तरण करती चली।

एक दिन धनकुमार और धनवती सरोवर-स्नान के उद्देश्य से किसी सरोवर की ओर निकल गए। वे उस सरोवर के समीप पहुँचे ही थे कि एकाएक धनवती की दृष्टि कुछ दूर पर लड़खड़ाकर गिरते हुए व्यक्ति पर पड़ी। उसने धनकुमार का ध्यान उस तरफ दिलाते हुए कहा—

"प्राणनाथ! देखिए तो, कोई एक असहाय व्यक्ति वहाँ, उधर भूमि पर गिर पड़ा है।"

धनकुमार ने उस दिशा में देखा और भूमि पर गिरे हुए उस व्यक्ति को देखकर वह तेजी से उसकी सहायतार्थ उधर दौड़ पड़ा। धनवती भी उसके पीछे-पीछे दौड़ी।

समीप पहुँचने पर धनकुमार ने विकल होकर देखा—एक जैन मुनिवर भूमि पर गिरे पड़े हैं। यह देखकर उसका हृदय आर्त्तनाद कर उठा। उसने शीघ्र ही मुनिवर को सम्हाला। वे अचेत हो गये थे। धनकुमार ने प्रयत्न करके उनकी मूर्च्छा दूर की। चेतना जब लौट आई तब धनकुमार ने मुनिवर से पूछा—

"मुनिवर! यह कैसे हुआ? आप इस संकट में कैसे पड़ गए?"

स्वस्थता का अनुभव करते हुए मुनिवर ने उत्तर दिया—

"हे भद्र! यह संसार है। संसार का वास ही संकट और दुःखरूप है। किन्तु इस समय मेरी यह अवस्था विहार में हो गई। मैं अपने गुरुदेव मुनिचन्द्र जी तथा अन्य मुनियों के साथ विहार में था। संयोगवशात् हमारा साथ छूट गया। मैं भटकता हुआ इधर आ गया। अत्यधिक ग्रीष्म के ताप, तृषा तथा थकान के कारण मेरी यह अवस्था हो गई। मुझे मूर्च्छा आ गई। किन्तु अब ठीक है। आपने मेरे साथ बहुत भलाई की है। मैं आपको धर्म लाभ ही दे सकता हूँ।"

"मेरा अहोभाग्य, मुनिवर! यदि स्वस्थता हो तो कुछ और धर्मोपदेश प्रदान करने की कृपा करें।"

धनकुमार के आग्रह पर मुनिराज ने कहा—

"भद्र ! आपने देखा कि क्षणमात्र में मेरी क्या अवस्था हो गई थी। ऐसी ही अवस्था इस संसार में किसी भी व्यक्ति की, किसी भी क्षण हो सकती है। अतः आत्म-कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को क्षणमात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। जो समय व्यतीत होता चला जा रहा है वह फिर कभी लौटकर आने वाला नहीं है। अतः धर्म का साधन कर लेना चाहिए, करते रहना चाहिए।"

इसी प्रकार धर्मोपदेश प्रदान करते हुए मुनिराज ने धनकुमार को गार्हस्थ्य धर्म कह सुनाया। धनकुमार और धनवती ने एक-एक शब्द बड़े ध्यान से सुना और प्रभावित होकर सम्यक्त्वमूलक श्रावक-धर्म ग्रहण कर लिया।

धनकुमार के आग्रह पर मुनिवर कुछ समय तक आस-पास समीप में ही विहार करते हुए अन्ततः अपने मुनि-समुदाय में जा मिले।

गुणवान दम्पत्ति के जीवन में जब जैनधर्म के उच्च आदर्श भी आ मिले तब उनका दाम्पत्य जीवन और भी खिल उठा। वे दो शरीर और एक आत्मा की भाँति काल-निर्गमन करने लगे।

धीरे-धीरे राजा विक्रमधन वृद्धावस्था की ओर बढ़ रहे थे। समय रहते वे चेत गए और एक दिन अपने प्रिय पुत्र धनकुमार को सारा राजपाट सौंपकर तपस्या करने वनों की ओर चले गए।

धनकुमार को राज्य का भार कभी भारस्वरूप प्रतीत नहीं हुआ, क्योंकि उसने इसे सदा कर्तव्य ही माना। एक पुनीत कर्तव्य मानकर वह अपनी प्रजा का पालन ठीक उसी प्रकार करने लगा जैसे एक पिता अपनी समस्त सन्तान का किया करता है। कोई भी पिता अपनी अनेक सन्तानों में कोई भेदभाव नहीं किया करता। उसे अपनी सभी सन्तान समान रूप से प्रिय होती हैं। इसी प्रकार राजा धनकुमार अपने राज्य में बसने वाली विभिन्न वर्णों एवं वर्गों की समस्त प्रजा को समान दृष्टि से देखता हुआ उनका पालन करता रहा।

वर्ष पर वर्ष व्यतीत होते गए।

एक दिन उद्यानपाल ने आकर राजा धनकुमार को सूचना दी कि उद्यान में मुनि वसुन्धर पधारे हैं। इस सूचना से राजा धनकुमार बहुत प्रसन्न हुए। वह वसुन्धर मुनि से पूर्व परिचित था। उनके ज्ञान तथा

निर्मल चारित्र्यपूर्ण जीवन का प्रभाव उसके हृदय में अंकित था। वह रानी धनवती के साथ मुनिवर के दर्शनार्थ उसी घड़ी चल पड़ा।

दर्शन-वन्दन के उपरान्त धनकुमार ने वसुन्धर मुनि से उपदेश श्रवण किया। उस उपदेश का प्रभाव और उसका परिणाम यह निकला कि जीवन के उत्तरकाल की ओर अग्रसर होते हुए राजा धनकुमार को वैराग्य उत्पन्न हो गया।

अपने राजमहल में लौटकर आने के बाद राजा धनकुमार ने अपने योग्य युवापुत्र जयन्तकुमार को बुलाकर कहा—

"पुत्र जयन्त ! अब तुम युवा हुए और हम बूढ़े हो रहे हैं। तुम इस राज्य का भार सम्हालने के सर्वथा योग्य हो चुके हो। अतः अब यह भार तुम अपने कन्धों पर उठा लो।"

"पिताजी ! आप केवल आज्ञाएँ प्रदान करते रहें और विश्राम करें। चिन्ता किस बात की है ?"

"नहीं बेटे, ऐसे नहीं। आज्ञाएँ प्रदान करने के लिए अब हमें यहाँ बैठे नहीं रहना है। तुम अपने विवेक से ही अब राज्य का संचालन करोगे। हम जैन दीक्षा लेकर विचरण करेंगे.....।"

"क्या कह रहे हैं पिताश्री ? आप दीक्षा लेकर जंगल-जंगल भटकेंगे ? आपको यहाँ क्या कष्ट है ? क्या बाधा है ?"—जयन्तकुमार अपने पूज्य पिता का कथन सुनकर विकल होकर पूछ बैठा।

"अरे पुत्र ! तुम विवेकवान हो। जानते हो कि यह संसार ही आत्म-कल्याण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। इस संसार-सागर से पार उतरने का पुरुषार्थ करना चाहिए न ? हमारा समय आ गया। अपने समय पर तुम भी इसी मार्ग पर आगे बढ़ोगे। अधीर न बनो। अपने कर्तव्य का भार उठाने के लिए वीर पुरुष की भाँति प्रस्तुत हो जाओ।"

जयन्त कुमार जान गया कि उसके दृढ़निश्चयी पिता अब मानने वाले नहीं हैं। अपने निश्चय से पीछे हटने वाले नहीं हैं, वह अपने पिता के प्रबल पुरुषार्थ से भलीभाँति परिचित था। अब वह क्या करता ?

मौन ही रह गया जयन्त कुमार।

उसका हृदय पिता के वियोग की कल्पना से भारी तो हो ही गया था।

राजतिलक की विधि शुभ दिन, शुभ घड़ी में पूर्ण की गई।

राजा धनकुमार दीक्षित होकर विचरण करने लगे।

पतिव्रता, सती नारी धनवती ने भी अपने पति का अनुसरण किया और उसने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

धनकुमार के दो भाई, धनदत्त और धनदेव भी अपने अग्रज के चरण चिन्हों पर चल पड़े।

फिर चल पड़ा तपश्चर्या एवं ज्ञानाराधना का एक अविराम चक्र। धनमुनि ने अपने गुरुदेव की साक्षी में घोर तपश्चर्या की और अथक ज्ञानार्जन कर वे गुरुदेव द्वारा आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किए गए।

यथाकाल, यथासमय अनशन व्रत ग्रहण कर धनाचार्य इस देह का सुखपूर्वक त्यागकर सौधर्म देवलोक में देवभव में उत्पन्न हुए।

धनवती तथा धनदेव एवं धनदत्त भी अपनी तपस्या के प्रभाव से उसी देवलोक में पहुँचे।

इस प्रकार भगवान् अरिष्टनेमि के नव पूर्वभवों में से प्रथम एक भव की कथा यहाँ सम्पूर्ण हुई।

प्रिय पाठकगण ! यह कथा बहुत रोचक है। इसका परिशीलन आप को सन्मार्ग की ओर आगे बढ़ाए।

आइये, आगे बढ़ें।

□

[२]

कालचक्र कभी थमता नहीं।

प्रत्येक जीव अपना आयुष्य पूर्ण कर एक भव से दूसरे भव में चला जाता है।

सौधर्म देवलोक में अपना आयुष्य पूर्ण कर धनकुमार ने भरतक्षेत्र के वैताढ्य पर्वतमाला के अंचल में बसे सूरतेज नामक नगर में वहाँ के खेचर चक्रवर्ती सूर नामक नरेश की पत्नी विद्युन्मती की कुक्षि से जन्म लिया। राजा-रानी दोनों ही बहुत विवेकवान प्राणी थे। उन्होंने बालक के जन्म पर हर्षित होकर बहुत दान-पुण्य किया और बड़े चाव से बड़ी सावधानी से वे अपने राजकुमार का लालन-पालन करने लगे।

बालक का नाम रखा गया चित्रगति। वह मेधावी बालक जब शिक्षा प्राप्त करने की आयु का हुआ तब उसकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध कर दिया गया और देखते ही देखते वह एक-एक कर समस्त विद्याओं और कलाओं में पारंगत भी हो गया।

ये सब घटनाएं वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी के अंचल में घटित हुईं।

दूसरी ओर इसी पर्वत की दक्षिण श्रेणी में शिवमन्दिर नामक नगर था। उस नगर का राजा था—अनंगसिंह तथा उसकी रानी थी शशिप्रभा। धनवती ने सौधर्म देवलोक में अपना आयुष्य पूर्ण कर इसी रानी की कुक्षि से जन्म लिया था। जिस प्रकार धनकुमार की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध राजा सूर ने किया था, उसी प्रकार धनवती, जिसका नाम अब रत्नवती रखा गया था, की शिक्षा का प्रबन्ध भी उसके माता-पिता ने समुचित रूप से किया था और वह भी समय आने पर सभी विद्याएं सीख गई थी। उसका कमल नाम का एक बड़ा भाई और था किन्तु पुत्री वह अकेली थी। अतः वह सभी की बड़ी लाड़ली भी थी।

बाल्यकाल के पश्चात् किशोरावस्था तथा किशोरावस्था के उपरान्त यौवनकाल आता ही है। रत्नवती भी अब अपने यौवनकाल में प्रवेश कर चली थी। यह देखकर राजा अनंगसिंह को अपनी पुत्री के लिए योग्य वर की चिन्ता होने लगी।

एक दिन उसने ज्योतिषी को बुलाकर उससे पूछा—

"पण्डित जी, रत्नवती अब युवा हो गई है। मुझे उसके लिए योग्य वर की चिन्ता होने लगी है। क्या आप बता सकते हैं कि इसका विवाह किसके साथ होगा ?"

ज्योतिषी ने रत्नवती की कुण्डली देखी। गणना की। हिसाब लगाया। उसका चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। वह बोला—

"महाराज ! आप बहुत भाग्यवान हैं। इस कन्या का भाग्य बहुत उत्तम है। मेरी गणना और ज्ञान कहते हैं कि राजकुमारी जी को वर के रूप में अद्वितीय वीर पुरुष की प्राप्ति होगी।"

यह सुनकर राजा अनगसिंह प्रसन्न हुए। किन्तु उन्होंने और अधिक विस्तार से जानना चाहा। बोले—

"पण्डित जी, कुछ विस्तार से कहिए कि इसे कब और किस प्रकार से वर की प्राप्ति होगी ?"

ज्योतिषी ने विशेष विचार किया और फिर बोला—

"महाराज ! कोई एक ऐसा वीर पुरुष होगा जो आपका खड्ग आपसे छीन लेगा·····।"

"क्या कहा ? मेरा खड्ग छीन लेगा ?"

"क्षमा करें, महाराज ! आप एक परमवीर पुरुष हैं। किन्तु मेरी गणना कहती है कि वह वीर पुरुष तो अन्यतम होगा। अवश्य ही वह युद्ध में आपको पराजित करेगा, आपका खड्ग छीन लेगा।"

"अच्छा ठीक है। और कहिए।"

"महाराज ! किसी सिद्धायतन क्षेत्र में देवगण उस वीर पुरुष पर पुष्पवर्षा करेंगे। राजकुमारी जी के भावी वर का पता आपको इन्हीं दो संकेतों से स्वतः ही लग जाएगा।"

यह बातें जानकर राजा अनंगसिंह ने ज्योतिषी को ससम्मान विदा किया और अन्तःपुर में जाकर सारी बात अपनी रानी को बताकर बोले—

"महारानी, ज्योतिषी कहता है कि वह लड़का युद्ध में मुझे परास्त कर देगा।"

रानी यह सुनकर मुस्कराती रही।

कुछ चिढ़कर राजा ने फिर कहा—

"और वह मेरा खड्ग मुझसे छीन लेगा।"

अब रानी ने मन ही मन प्रसन्न होते हुए कहा—

"भोले राजा जी, आपका भावी दामाद यदि इतना वीर पुरुष होगा कि वह आपको भी युद्ध में परास्त कर दे और आपका खड्ग आपके हाथ से छीन ले तो यह प्रसन्नता की बात है कि खीझने की ?"

"लेकिन महारानी, किसमें इतना साहस है कि.....।"

"इतना साहस और शौर्य आपके भावी दामाद में ही होगा, महाराज ! अन्य किसी में नहीं। दामाद तो पुत्र के समान होता है न ? कहिए।"

"हाँ, होता तो है।"

"तब यदि आपका पुत्र आपसे भी बढ़कर वीर और गुणवान निकले तो यह प्रसन्नता और गर्व की ही बात होगी न ?"

"हाँ, तुम कहती तो ठीक ही हो।"

"बस, तब प्रसन्न हो जाइये और बेटी के विवाह की तैयारियाँ आरम्भ कीजिए। देवगण भी जिस पर पुष्प-वृष्टि करेंगे. ऐसे महापुरुष का योग्य स्वागत-सत्कार हमें करना पड़ेगा कि नहीं ?"

× × +

धीरे-धीरे संयोग जुटने लगे।

भरतक्षेत्र के चक्रपुर नगर में सुग्रीव नामक राजा राज्य करता था उसकी दो पत्नियाँ थीं—यशस्वती और भद्रा। यशस्वती का एक पुत्र था, सुमित्र। भद्रा ने जिस बालक को जन्म दिया था उसका नाम था पद्म।

ये दोनों भाई, दोनों राजकुमार तो आपस में बहुत प्रेम से रहते थे और किसी भी प्रकार की स्पर्धा, द्वेष अथवा अन्य मनोमालिन्य की भावना से रहित थे। किन्तु रानी भद्रा एक कुटिल स्त्री थी। वह छोटी थी और उसका बेटा पद्म भी अपने भाई सुमित्र से छोटा था। अतः भद्रा सोचती

थी कि जब तक सुमित्र जीवित है तब तक उसके पुत्र को तो राज्य मिल नहीं सकता। अत. अपने पुत्र की राज्य प्राप्ति के मार्ग के इस कंटक को वह किसी प्रकार हटा देना चाहती थी।

एक दिन उसकी यह दुर्मति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। सब दास-दासियों की आँख बचाकर उसने सुमित्र को विष खिला दिया। विष के प्रभाव से सुमित्र मूर्च्छित होकर अपनी शय्या पर गिर पड़ा।

राजभवन में हाहाकार मच गया।

राजवैद्य दौड़े-दौड़े आए।

उपचार पर उपचार किए गए।

सब निरर्थक।

राजा सुग्रीव किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए।

रानी यशस्वती अपना सिर पीटकर रह गई।

और भद्रा ?—उसने सुमित्र को विष देने का कुकर्म तो कर डाला, किन्तु अब पकड़े जाने के भय से भयभीत होकर वह भाग गई।

किन्तु भद्रा की ओर किसी का ध्यान नहीं था। सभी का ध्यान सुमित्र की ओर था। उसका बदन नीला पड़ता जा रहा था। श्वास मन्द से मन्दतर होती चली जा रही थी। कोई उपचार, कोई मन्त्र-तन्त्र कारगर सिद्ध नहीं हो रहा था।

सारे राजभवन में शोक और चिन्ता की गहन उदासी छा गई थी।

किन्तु मारने वाले से बचाने वाला अधिक समर्थ होता है। संयोग-वशात् राजकुमार चित्रगति अपने विमान पर भ्रमण करते हुए उसी नगर के ऊपर से जा रहे थे। नीचे की ओर दृष्टि करके जब उन्होंने देखा कि सारे नगर में एक अजीब-सी चुप्पी और उदासी छाई हुई दिखाई दे रही है तो इसका कारण जानने की जिज्ञासा से उन्होंने अपना विमान नीचे उतार लिया। एक नागरिक से उन्होंने पूछा—

"भाई, क्या बात है ? आप सब लोग इतने चिन्तित क्यों दिखाई दे रहे हैं ?"

उस नागरिक ने देवता के समान दिखाई देने वाले चित्रगति को देखा और ससम्मान उत्तर दिया—

"महाशय ! सर्वनाश हो गया। हमारे राजकुमार सुमित्र को किसी पापी ने विष दे दिया है। कोई उपचार, कोई विधान काम नहीं दे रहा है। सुना है कि वे अन्तिम साँसें ले रहे हैं। राजमहल में....."

आगे की बात सुनने के लिए चित्रगति वहाँ नहीं ठहरा। वह तीव्र गति से महलों में जा पहुँचा। उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व को देखकर लोग उसे मार्ग स्वतः ही देते चले गए।

जिस कक्ष में राजकुमार सुमित्र शय्या पर पड़ा था उस कक्ष में पहुँचकर चित्रगति ने सुमित्र की नाड़ी, श्वास आदि की जाँच की और आदेश दिया—

"जल लाइये।"

सुवर्ण पात्र में जल तत्काल लाया गया। चित्रगति ने आँखें मूंदकर मन्त्रजाप किया और फिर वह अभिमन्त्रित जल सुमित्र के ऊपर छिड़क दिया।

जैसे जादू ही हो गया।

सुमित्र अपने नेत्र खोलकर अगड़ाई लेता हुआ इस प्रकार उठ बैठा जैसे निद्रा से जागा हो।

राजा-रानी और समस्त उपस्थित जन आनन्द में डूब गए। सुमित्र ने अपने चारों ओर इतने सारे लोगों को अपने आपको घेरे हुए खड़ा देखा तो पूछा—

"पिताजी ! क्या बात है ? आप सब लोग मुझे घेरे क्यों खड़े हैं ? और यह महाशय कौन हैं ? इन्हें तो मैंने पहले कभी नहीं देखा।"

राजा सुग्रीव ने 'बेटा-बेटा' कहते हुए अपने प्रिय पुत्र को अपनी छाती से लगा लिया और गद्गद् स्वर में कहा—

"बेटा ! तुम स्वस्थ हो गए, पुनर्जीवित हो गए, प्रभु की दया है और यह इन महापुरुष की ही कृपा है। वरना हम तो निराश हो गए थे।"

"किन्तु पिताजी, हुआ क्या ?"

"तुम्हें तुम्हारी सौतेली माता, उस नागिन ने भयकर विष दे दिया था, बेटे ! उस पापिनी को मैं जीवित नहीं छोड़ूंगा।"

"विष ? मेरी भद्रा माता ने मुझे विष दे दिया पिताजी ! यह कैसे हो सकता है ?"

"इस संसार में क्या-क्या नहीं हो सकता, बेटे ? किन्तु अभी अब इस बात को छोड़ो। उठो, इन महाशय को धन्यवाद दो·····लेकिन इनका धन्यवाद किया भी जाय तो कैसे ? इन्होंने तुम्हें और हमें नया जीवन प्रदान किया है। आजन्म ऋणी रहेंगे हम इनके·····"

"बस, बस, महाराज ! अधिक कुछ न कहिए। मैं तो आपके पुत्र के ही समान हूँ। मैंने अपना कर्तव्य ही तो पूरा किया है। कृपा तो भगवान् की है कि मेरा यह मित्र···· ···· ····।"

"सुमित्र है इसका नाम, बेटे !"—महाराज सुग्रीव ने बताया और पूछा—"किन्तु तुम भी तो अब अपना परिचय दो। हम तो चिन्ता में ऐसे डूबे थे कि तुम्हारा परिचय ही अब तक न पूछ सके।"

"मेरा नाम चित्रगति है महाराज ! मैं सूरतेज नामक नगर के राजा सूर का पुत्र हूँ। घूमते-घामते इधर निकल आया था।"

"हमारे अहोभाग्य ! राजकुमार, यदि आप आज इस समय यहाँ न आते तो हमारा तो सर्वनाश ही हो जाता। आइये, अब विश्राम कीजिए, कुछ समय तक हमारा आतिथ्य स्वीकार कीजिए।"

"धन्यवाद, महाराज ! किन्तु मुझे अब जाना चाहिए। मेरे माता-पिता मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।"—चित्रगति ने कहा।

"नहीं मित्र ! मैं आपको इतनी जल्दी नहीं जाने दूँगा। आपने अकारण ही मुझ पर कृपा की है, मेरे प्राण बचाये हैं। आपको हमारे साथ कुछ दिन तो ठहरना ही पड़ेगा।" और अपने पिता की ओर देखते हुए उसने कहा—"पिताजी, इनके माता-पिता के पास इनका कुशल समाचार भिजवाने का प्रबन्ध कर दीजिए।"

"हाँ, अवश्य ! अभी दूत को रवाना किए देता हूँ। तुम लोग आनन्दपूर्वक वार्तालाप और विश्राम करो।"

यह कहकर राजा सुग्रीव, रानी तथा अन्य व्यक्तियों के साथ वहाँ से चले गए।

चित्रगति सुमित्र के प्रेमपूर्ण आग्रह को ठुकरा नहीं सका : और जब उसने यह बताया कि समीप ही कहीं सुयशा नामक केवली भगवन्त विचरण कर रहे हैं और शीघ्र ही चक्रपुर नगर में पधारने वाले हैं तो उसने प्रसन्नता-पूर्वक कुछ दिन वहीं ठहरने की स्वीकृति दे दी।

समान वय एवं गुण-शील वाले व्यक्तियों में मैत्री शीघ्र ही हो जाती है। चित्रगति और सुमित्र कुछ दिनों में ही अभिन्न मित्र बन गए।

यौवनकाल, अच्छे मित्र की संगति और सभी प्रकार के सुख-साधन इन परिस्थितियों में दोनों मित्रों का समय बड़े आनन्दपूर्वक देखते देखते ही व्यतीत होता चला गया। कभी वे शास्त्रों की चर्चा करते, कभी वन-विहार को निकल जाते और कभी नाना प्रकार की क्रीड़ाओं में काल-यापन करते रहे।

फिर केवली भगवन्त का उस नगर में पदार्पण हुआ। समाचार मिलने पर राजा सुग्रीव और हजारों नगरवासी उनके दर्शन हेतु बड़े उत्साहपूर्वक गए। चित्रगति एवं सुमित्र भी गए। केवली भगवंत के तो दर्शन ही अत्यन्त कल्याणकारी और शान्ति प्रदान करने वाले होते हैं। फिर उनका धर्मोपदेश सुनकर तो जीवन ही धन्य हो जाता है।

धर्मोपदेश सुनकर चित्रगति के मन में जैन धर्म के प्रति आस्था जगी और दृढ़ हो गई। उसने केवली भगवन्त से प्रार्थना की—

"प्रभो ! आज मेरा जीवन धन्य हो गया। मेरे अन्तर्चक्षु खुल गए। मैं आज तक अर्हत् धर्म के ज्ञान से वंचित ही रहा था। यहाँ तक कि मैं अपने कुल-परम्परा से प्रचलित श्रावक धर्म को भी नहीं जान पाया था। कृपया मुझे सम्यक्त्वमूलक श्रावक धर्म प्रदान कीजिए।"

इस प्रकार चित्रगति ने केवली भगवंत से श्रावक-धर्म प्राप्त किया। इसके बाद राजा सुग्रीव ने विनय की—

"भगवन् ! इस संसार की कोई भी बात आपसे अनजानी नहीं है। कृपया बताइए कि सुमित्र को विष देकर भद्रा कहाँ गई और इस पापकर्म का उसे क्या फल भुगतना पड़ेगा ?"

केवली भगवन्त ने कर्मफल का परिणाम भव्य जीवों को समझाने के उद्देश्य से कहा—

"भद्रा यहाँ से भागकर जंगल में गई। वहाँ भील जाति के लोगों ने उसे लूटकर अपने राजा के समक्ष उपस्थित किया। भीलराज ने उसे एक वणिक के हाथों बेच दिया। किसी प्रकार वह वणिक के पास से भागकर पुनः जंगल में जा पहुँची जहाँ पर दावानल में जलकर, रौद्रध्यान से मृत्यु होने के कारण अब प्रथम नरक भोग रही है।

"राजन् ! उस नरक का आयुष्य पूर्ण होने पर वह एक चाण्डाल की स्त्री बनेगी। उस जन्म में भी अपनी सौत के हाथों मृत्यु पाकर वह तीसरे नरक को भोगेगी। तत्पश्चात् उसे तिर्यंच गति प्राप्त होगी। इसी प्रकार अपने पापकर्म का फल भोगते हुए वह अनन्त काल तक, जन्म-जन्मान्तर तक दुःख भोगती रहेगी।"

केवली भगवन्त के वचनों का राजा सुग्रीव के हृदय पर ऐसा प्रभाव हुआ कि वे वैराग्य भावना से ओत-प्रोत हो गए। उन्होंने इस संसार की असारता को जान लिया। अतः उन्होंने भगवान के निकट संयम लेने की इच्छा प्रगट की।

सुमित्र के हृदय में भी उथल-पुथल मच गई थी। वह सोच रहा था था कि माता के दुष्कर्म में उसे कारण रूप बनना पड़ा। वह दुःखी हो गया। उसने केवली भगवन्त से कहा—

"भगवन् ! मेरे ही कारण मेरी माता की यह दुर्दशा हुई है। मुझे धिक्कार है। कृपया मुझे भी संयम प्रदान कर इस असार संसार-सागर से पार उतारिए।"

किन्तु राजा सुग्रीव ने सुमित्र को समझाया—

"प्रिय पुत्र ! जो होना था, वह हो गया। तुम दुःखी न बनो। इस संसार में अपने-अपने कर्मों का फल सभी को भोगना पड़ता है। भद्रा ने जैसा बोया, वैसा ही काटने के लिए वह विवश है। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है।

"जहाँ तक संयम लेने का प्रश्न है, उसकी आज्ञा मैं तुम्हें अभी नहीं दे सकता। मैं तुम्हारा पिता हूँ। मेरी आज्ञा मानना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम्हारा यह भी कर्तव्य है कि अभी तुम मेरे बाद राज्य भार का वहन करो और अपनी प्रजा का पालन करो। समय आने पर तुम्हें संयम के मार्ग पर जाने से कोई नहीं रोकेगा।"

सुमित्र को अपने पिता की आज्ञा का पालन करना पड़ा। पिता राजा सुग्रीव के दीक्षित होकर भगवन्त के साथ विचरण करने हेतु चले जाने के बाद वह राजा बनकर निष्ठापूर्वक अपनी प्रजा का पालन करने लगा।

उसने अपने भाई पद्म को अनेक ग्राम प्रदान कर सन्तुष्ट करना चाहा, किन्तु वह असन्तुष्ट ही बना रहा और राज्य छोड़कर कहीं अन्यत्र चला गया।

चित्रगति कुछ दिन तक सुमित्र के साथ और ठहरा। अन्त में वह विदा लेकर अपने माता-पिता के पास लौट आया। परोपकारी मित्र के वियोग से सुमित्र का मन कुछ समय तक बहुत उदास बना रहा।

\+ + + +

कुछ ही समय बाद बेचारे सुमित्र पर एक और विपत्ति आ गई। राजा अनंगसिंह का पुत्र कमल दुष्टबुद्धि था। उसने एक दिन सुमित्र की बहिन को कहीं विहार करते देखा, उस पर आसक्त हो गया, और उसका अपहरण कर ले गया। सुमित्र को कुछ पता नहीं चल पाया कि किस दुष्ट ने उसकी बहिन का अपहरण किया है। वह खोजबीन करता रहा, कोई कसर उसने नहीं छोड़ी, किन्तु हाथ लगी निराशा ही। अत्यन्त दुःखी होकर उसने अन्ततः अपने मित्र चित्रगति को ही याद किया और उसे सन्देशा भेजा—

"प्रिय मित्र चित्रगति,

मुझे तुम्हारी सहायता की एक बार पुनः आवश्यकता पड़ गई है। किसी दुष्ट व्यक्ति ने मेरी बहिन का अपहरण कर लिया है। मैंने बहुत खोज की, किन्तु कुछ पता नहीं लग रहा है। तुम समर्थ हो। इस संकट में मेरी सहायता करो। शीघ्र।

तुम्हारा ही अभिन्न
सुमित्र

इस पत्र को पढ़ते ही चित्रगति के रोम-रोम में ज्वाला सी सुलग उठी। तलवार की मूठ पर उसका साथ चला गया और गर्जना के स्वर में उसने आदेश दिया—

"सेनापति! हमारा सैन्य सज्जित करें। हम आज ही, इसी क्षण अपने मित्र की सहायता के लिए प्रस्थान कर रहे हैं।"

सुमित्र के पास उसने सन्देशा भेजा—

"मित्र सुमित्र!

चिन्ता न करो। मैं आ रहा हूँ। तुम्हारी बहिन का अपहरण करने वाला पापी पाताल में भी छिपा होगा तो उसका पता लगाकर उसे इस पाप का दण्ड अवश्य दूँगा।

मैं आ रहा हूँ।

तुम्हारा मित्र
चित्रगति

सुमित्र के पास यह सन्देश उसने भेजा और साथ ही साथ अपने कुशल गुप्तचर चारों दिशाओं में रवाना कर दिये।

इस तत्परता का परिणाम भी उतना ही त्वरित गति से प्राप्त हो गया। गुप्तचरों द्वारा चित्रगति को सूचना मिल गई कि शिवमन्दिर के राजकुमार कमल ने सुमित्र की बहिन का अपहरण किया है।

वायुवेग से चित्रगति आगे बढ़ा और विद्युत् गति से उसने कमल की सेना पर आक्रमण कर दिया। जिस प्रकार कोई तूफान तिनकों के ढेर को क्षण मात्र में बिखेर देता है, उसी प्रकार उसने शत्रु की सेना के परखचे उड़ा दिये। दुष्ट, किन्तु कायर कमल भागकर अपने पिता की शरण में पहुँचा।

अपने पुत्र की पराजय देखकर राजा अनंगसिंह क्रोध से आगबबूला हो गया। उसने उचित-अनुचित कार्य का कुछ विचार नहीं किया और चित्रगति से जाकर भिड़ गया।

अब युद्ध एक महावीर से दूसरे महावीर के बीच था। चित्रगति तो महावीर था ही, अनंगसिंह भी कुछ कम नहीं था। घमासान मच गया। लम्बे समय तक युद्ध चलता रहा। कभी पलड़ा एक ओर को झुका दिखाई देता तो कभी दूसरी ओर। राजा अनंगसिंह ने अपने अनुभव का लाभ लेना चाहा, भाँति-भाँति के दाव आजमाए, किन्तु चित्रगति के युवा शौर्य ने भी अपनी करामात दिखाई और अनंगसिंह के प्रत्येक दाव की काट कुशलतापूर्वक करता हुआ वह अनंगसिंह को थकाता हो रहा।

राजा अनंगसिंह हैरान हो गया। वह सोच रहा था कि उसके जैसे जमाना देखे हुए अनुभवी महारथी को यह एक दूध पीता बच्चा कैसे इतना परेशान कर रहा है? क्या यह कोई दैवी पुरुष है.....?

इस विचार के साथ ही उसे अपने उस दैवी खड्ग का स्मरण हो आया जो उसके पूर्वजों को किसी देवता की कृपा से प्राप्त हुआ था। उसका स्मरण करते ही वह लपलपाता हुआ कराल खड्ग उसके हाथ में आ गया। सारी समरभूमि उस दैवी खड्ग की अद्भुत चमक से प्रकाशित हो उठी।

अब अनंगसिंह गरजा—"ले छोकरे, अब सम्हल जा। तेरा काल उपस्थित हो गया है।"

"महाराज अनंगसिंह ! काल तो प्रत्येक काल में सर्वत्र उपस्थित ही रहा है। आप मुझे इससे क्या भयभीत करेंगे ? आप एक अधर्मी की ओर से युद्ध करने आए हैं। आपकी पराजय निश्चित है।"—चित्रगति ने तनिक भी विचलित न होकर उत्तर दिया।

"अच्छा, तो अब पुकार ले अपने धर्म को। देखूँ तो जरा कि तुझमें और तेरे धर्म के कितनी शक्ति है ?"

यह कहकर राजा अनंगसिंह चित्रगति पर टूट पड़े। जैसे कोई महा गजराज किसी सिंह को अपने पैरों तले कुचल देने के लिए तीव्र गति से आगे बढ़ रहा हो।

वह खड्ग सचमुच दैवी था, मूर्तिमान प्रलय ही था। राजा अनंग सिंह पूरे आत्म-विश्वास के साथ मार्ग में आते सैनिकों के सिर भुट्टों की तरह उड़ाते हुए चित्रगति की ओर लपके।

किन्तु जब दोनों महारथी आमने-सामने हुए, आपस में भिड़े, तब चित्रगति ने इतनी चपलता और निपुणता से असियुद्ध किया कि राजा अनंगसिंह के हाथ से उनका वह खड्ग छूटकर भूमि पर जा गिरा। वे निहत्थे हो गए। पराजित हो गए।

चित्रगति ने वह खड्ग उठाकर अपनी कमर में खोंसते हुए व्यंग्य किया—

"महाराज अनंगसिंह ! आपका यह खड्ग सचमुच अति श्रेष्ठ है। अब मैं इसे आपकी प्रेमपूर्ण भेंट मानकर अपने पास ही रखूंगा। समय-समय पर यह मुझे आपके शौर्य का स्मरण दिलाता रहेगा।"

इतना कहकर चित्रगति अपने सैनिकों सहित उस स्थान पर गया, जहाँ सुमित्र की बहिन बन्दिनी बनाकर रखी गई थी। उसे मुक्त कराकर वह पवनवेग से अपने मित्र सुमित्र के पास चला गया।

अपनी इस शर्मनाक पराजय से आहत, चित्रगति के अद्भुत शौर्य से विस्मित और विमोहित राजा अनंगसिंह बहुत समय तक अवाक् एवं स्तम्भित-सा उसी स्थान पर जड़वत् खड़ा रह गया।

फिर जब उसका होश लौटा तो उसने पाया कि उसके पूर्वजों का दैवी खड्ग उससे छीन लिया गया है.....

तत्क्षण उसे ज्योतिषी के कथन का स्मरण हो आया—'जो आपसे आपका खड्ग छीन लेगा, उसी युवक के साथ आपकी पुत्री का विवाह होगा।'

इस बात की याद आते ही अनंगसिंह की पराजय की ग्लानि दूर हो गई। दुःखी होने के स्थान पर अब वह प्रसन्न हो गया और उसने ज्योतिषी का आगे का कथन याद किया—'सिद्धायतन क्षेत्र में देवगण उस पर पुष्प-वृष्टि करेंगे।'

अपने भावी वीर दामाद, चित्रगति की खोज करने के लिए राजा अनंगसिंह के पास अब यही एक सूत्र था। उसने सिद्धायतन क्षेत्र पर सजग दृष्टि रखने का निश्चय किया और अपने राजमहल को लौट आया।

रानी अपने पराक्रमी पति की पराजय का समाचार सुनकर महलों में उदास बैठी थी। किन्तु जब राजा ने आकर सारी घटना का वर्णन उससे किया और ज्योतिषी के कथन की याद उसे दिलाई तब वह भी प्रसन्न हो गई—अपनी लाड़ली बेटी के लिए सुयोग्य और वीर वर की प्राप्ति पर कौन माता या पिता प्रसन्न नहीं होंगे!

अब तो केवल उस वीर युवक की खोज करना ही शेष रहा था।

\+ \+ \+

अपनी बहिन को सकुशल वापस पाकर सुमित्र अवश्य ही हर्षित हुआ था। किन्तु इस दुःखद घटना से उसका मन खट्टा भी हो गया था। तुच्छ सांसारिक वासनाओं के वशीभूत होकर मनुष्य कैसे-कैसे पाप कर बैठता है, यह विचार करते-करते उसे इस संसार से वैराग्य हो गया। उसने अपने पुत्र को राज्य का भार सौंपकर सुयशा केवली भगवन्त के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

काफी समय तक सुमित्र मुनि ने शास्त्रों का अध्ययन किया, तप-श्चरण किया और फिर गुरुदेव की आज्ञा प्राप्त कर वे एकाकी विचरण करने लगे।

विचरते-विचरते वे एक बार मगध देश में जा पहुंचे। उस क्षेत्र में एक समय वे किसी नगर के बाहर जब कायोत्सर्ग में लीन थे तब संयोग-वशात् उनका सौतेला भाई पद्म उधर ही आ निकला।

सुमित्र मुनि को देखकर पद्म के मन में हिंसा भाव जाग उठा। बदला लेने का उसने अच्छा अवसर समझा और अपना धनुष-बाण उठाकर एक ही तीर से सुमित्र मुनि का हृदय बेध दिया।

सुमित्र मुनि अपने हत्यारे भाई के प्रति पूर्ण क्षमाभाव पूर्वक शान्त चित्त से इस जीवन की लीला समाप्त कर ब्रह्म देवलोक में सामानिक देव बनकर उत्पन्न हुए।

पापी पद्म को भी अपने किये का फल हाथोंहाथ ही मिल गया। अपने भाई, सुमित्र मुनि का वध कर जब वह उस स्थान से भाग रहा था तब एक भयंकर सर्प दंश से मृत्यु पाकर वह सातवें नरक के भीषण दुःख भोगने चला गया।

फैलते-फैलते यह समाचार चित्रगति तक भी पहुँचा। अपने मित्र की मृत्यु की सूचना से उसका मन बहुत बोझिल हो गया। किसी बात में उसका मन रमता नहीं था। अतः उसने कुछ समय के लिए सिद्धायतन क्षेत्र में घूम-फिर आने का विचार किया। उसने सोचा कि पवित्र तीर्थ क्षेत्रों में विचरण करने से मन को कुछ शान्ति अवश्य प्राप्त होगी। यह विचार कर वह सिद्धायपन क्षेत्र की धर्म यात्रा हेतु निकल पड़ा।

धर्म स्थानों का वातावरण पवित्र होता है। जो भी व्यक्ति वहाँ जाता है और कुछ समय वहाँ व्यतीत करता है उसे स्वतः ही बहुत शान्ति का अनुभव होता है। सांसारिक उपक्रमों से कुछ समय के लिए मन उपरत हो जाता है और सन्तोष का भाव मन में आने से हृदय हल्का हो जाता है। मनोभावों में पवित्रता का संचार होता है।

चित्रगति भी सिद्धायतन क्षेत्र में विचरण करता हुआ ऐसी ही मनः स्थिति में था। उसका मन शान्ति और पवित्रता का अनुभव कर रहा था। ऐसे में ही एक दिन अचानक उसने पाया कि आकाश से उस पर दिव्य पुष्पों की वर्षा होने लगी.....

उसे आश्चर्य हुआ। यह पुष्प वर्षा कैसी ? किस कारण से, कौन उस पर यह पुष्प वर्षा कर रहा है ? उसने ऐसा क्या किया है जिससे कि उस पर शून्य में से स्वर्गीय पुष्पों की वर्षा किसी अदृश्य शक्ति द्वारा की जा रही है ?

चित्रगति विस्मय में ही डूबा रह गया।

वास्तविकता यह थी कि उसका मित्र सुमित्र जो कि ब्रह्म देवलोक में सामानिक देव बनकर उत्पन्न हुआ था, उसने अपनी दिव्य दृष्टि से अपने मित्र चित्रगति को सिद्धायतन क्षेत्र में विचरण करते हुए देख लिया था। अपने मित्र के प्रति पुराने प्रेम तथा कृतज्ञता की भावना से ही उसने चित्र-गति पर यह पुष्पवृष्टि की थी।

चित्रगति को इस प्रकार विस्मय करता देखकर सुमित्र देव अपने देव रूप में उसके सामने प्रगट हुआ और पूछने लगा—

"आप मुझे पहचान सकते हैं ?"

चित्रगति ने कहा—

"आप देव हैं। प्रतीत होता है कि यह पुष्प-वृष्टि आपने ही की है। इतना ही कह सकता हूँ। किस कारण आपने यह कृपा मुझ पर की, यह तो कैसे कहूँ ?"

यह सुनकर सुमित्रदेव अपने सुमित्र रूप में प्रगट हुआ। तब उसे पहचान कर चित्रगति आनन्दित होकर उसके गले से लिपट गया।

सुमित्रदेव ने कहा—"मित्र चित्रगति ! तुमने मुझ पर बहुत उपकार किए हैं। अकारण किए गए तुम्हारे उपकारों को मैं कभी भुला नहीं सकता।"

"अरे मित्र ! ऐसा कहकर मुझे लज्जित न करो। मित्रता के बीच में उपकार और कृतज्ञता जैसे शब्द निरर्थक हो जाते हैं। हम तो मित्र हैं। हमारी यह मित्रता सदैव बनी रहे तथा मित्र होने के नाते हम परस्पर एक दूसरे के हित साधन की भावना सदैव अपने हृदय में धारण करे रहें, यही पर्याप्त है। और यदि सच पूछो तो कृतज्ञ तो यदि होना चाहिए तो मुझे ही होना चाहिए तुम्हारे प्रति, क्योंकि तुम्हारे ही कारण मुझे सद्धर्म का ज्ञान हुआ। तुम्हारे ही आग्रह से तो मैं केवली भगवन्त के दर्शन पा सका था।"

दो निःस्वार्थ, निर्विकार हृदय वाले मित्रों का यह स्नेह-मिलन बड़ा ही आनन्ददायक था। ऐसे दृश्य देवताओं के लिए भी दुर्लभ ही होते हैं।

इस दुर्लभ दृश्य को अनेक व्यक्तियों सहित जिन दो अन्य आँखों ने भी देखा वे आँखें थीं राजा अनंगसिंह की।

देखकर वे आँखें धन्य हो गयीं।

उन आँखों ने अपने भावी दामाद को पहचान लिया।

राजा अनंगसिंह की सिद्धायतन यात्रा सफल हो गई।

किन्तु धर्म स्थानों पर विवाहादि सांसारिक कर्मों की चर्चा करना उचित नहीं होता। अतः राजा अनंगसिंह उस समय चुपचाप अपने नगर लौट आए।

नगर में लौट आने पर उन्होंने अपनी रानी को सारी घटना सुनाकर कहा—

"रानी, यह चित्रगति देवोपम पुरुष है। निश्चय ही यही अपनी बेटी रत्नवती का भावी पति होना चाहिए। तुम क्या कहती हो ?"

"मैं क्या कहूँ, स्वामी ! आपने उसे देखा है। जैसा आप ठीक समझें, वैसा ही कीजिए।"

"उसने मेरा खड्ग मेरे हाथों से छीन लिया, रानी ! यह कोई कम बात है ? इस देवोपम चित्रगति के अतिरिक्त किसका साहस था जो ऐसा कर सके। और फिर सिद्धायतन क्षेत्र में देवताओं ने उस पर पुष्पवृष्टि भी की। मैंने अपनी आँखों से यह अद्‌भुत दृश्य देखा है।"

"धन्य है, महाराज ! अब सन्देह ही क्या रह जाता है ?"

"हाँ, निस्संदेह चित्रगति ही हमारी बेटी के लिए योग्यतम वर है। ज्योतिषी का कथन सत्य ही था।"

"बस, तो अब शुभ कार्य में विलम्ब कैसा महाराज ?"

"कोई विलम्ब नहीं। मैं आज ही चित्रगति के पिता राजा सूर के के पास विवाह का प्रस्ताव भेजे देता हूँ। प्रभु सब मंगल करेंगे।"

हर्ष सहित, आशा लगाए, राजा अनंगसिंह ने अपने मन्त्री एवं राज-पुरोहित को राजा सूर के पास चित्रगति के साथ अपनी बेटी रत्नवती के विवाह सम्बन्ध का प्रस्ताव भेज दिया।

कहा गया है—क्षमा वीरस्य भूषणम्। महाराज सूर तथा चित्रगति ने राजकुमार कमल के अपराध को भुलाकर, क्षमा करके राजा अनंगसिंह के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

दोनों पक्षों में हर्ष और उल्लास का वातावरण बन गया। धूमधाम से विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ हुईं और शुभ घड़ी में शुभ विवाह भी सम्पन्न हो गया।

चित्रगति और रत्नवती के दिन सोने के और रातें चाँदी की हो गईं।

सोने के दिन और चाँदी की रातें समय के चपल पंखों पर देखते-देखते ही उड़ती चली गईं।

राजा सूर अवस्था को प्राप्त हुए।

उन्होंने चित्रगति को अपने स्थान पर राजा बना दिया और कर्तव्य-पालन का उपदेश देकर तपस्या हेतु वन में निर्गमन किया।

राजा चित्रगति पूर्ण कर्तव्य पालन की भावना तथा अपनी प्रजा के प्रति प्रेम से राज्य का कुशलतापूर्वक संचालन करने लगे।

उनके शासनकाल में प्रजा और भी अधिक सुखी तथा सम्पन्न बनी। साम्राज्य का विस्तार भी चित्रगति ने किया, किन्तु उसके पीछे उनकी राज्यलिप्सा नहीं थी। वे भरतक्षेत्र के अधिकांश भाग को निर्भय तथा सुखी बनाना चाहते थे, इसी भावना से उन्होंने अपने राज्य को विस्तार दिया था।

समय इसी प्रकार व्यतीत होता रहा। चित्रगति और रत्नवती श्रावक-धर्म का पालन करते हुए काल-यापन करते रहे।

एक बार चित्रगति के एक सामन्त मणिचूड़ का देहावसान हुआ। उसके बाद उसके दो पुत्रों में राज्य का विवाद खड़ा हो गया। वे आपस में लड़ने लगे। एक-दूसरे के खून के प्यासे हो गए। किन्तु चित्रगति ने उन्हें समझा बुझाकर उनके राज्य का आपस में बंटवारा इस प्रकार कर दिया कि दोनों को सन्तोष हो जाना चाहिए था।

कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत हुआ भी कि दोनों सन्तुष्ट हैं। शान्ति हो गई।

किन्तु राज्यलिप्सा, सत्ता का लोभ, ऐश्वर्य की कामना—ये बड़ी भीषण होती हैं। कुछ ही समय की शान्ति के बाद वे दोनों भाई पुनः आपस में लड़ने लगे। उनका आपसी वैर इस सीमा तक पहुंचा कि लड़ते-लड़ते वे दोनों ही काल के ग्रास बन गये।

वे दोनों असन्तोषी जीव न इधर के रहे, न उधर के।

यह देखकर चित्रगति का मन जो पहले से ही भगवद्भक्ति में लीन रहता था, अब पूर्णतः विरक्त हो गया। वैराग्य की प्रबल भावना से उन्होंने संसार त्याग का निश्चय कर लिया। रानी रत्नवती से उन्होंने कहा—

"महारानी, संसार का भोग कहो या कर्तव्य पालन की भावना कहो, अब बहुत हो गया। भोग-भोगना था तो वह भी बहुत भोग लिया और कर्तव्य पालन के नाते भी राज्य का भार बहुत समय तक वहन कर लिया। अब अपना पुत्र पुरन्दर युवा हो चुका है। सब प्रकार से वह समर्थ और योग्य है। मैं चाहता हूं कि अब उसे राज्य भार सौंपकर मुनि दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो जाऊं। तुम क्या कहती हो ?"

"नाथ ! मैं क्या कहूँगी ? आपने आज तक जो भी कार्य किए हैं वे सभी पूर्ण विवेकपूर्वक ही किए हैं। अब आपने जो यह विचार प्रगट किया है, वह भी सर्वथा उपयुक्त और उत्तम है। आप आगे-आगे चलिए मैं आपका अनुगमन करूँगी।"

"अरे, महारानी ! तुम यह क्या चाहती हो ? मुनि जीवन बहुत कठोर होता है.....।"

"स्वामी ! कोई लाभ नहीं। आप कितना भी मुझे समझाने का प्रयत्न करें, मैं मानने वाली नहीं। जहाँ आप, वहीं मैं। यह अटल है। मेरा और आपका जन्म-जन्मान्तरों का साथ है। वह छूटने से रहा।"

रत्नवती की मोहक मुस्कान में वज्र-कठोर दृढ़ता भी थी।

चित्रगति ने इस दृढ़ता को समझा और अन्त में यही कहा—

"अच्छा रत्नवती, जैसी तुम्हारी इच्छा। आत्म-कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ने वाले किसी भी प्राणी को रोका भी कैसे जा सकता है ? रोकना भी क्यों चाहिए ?"

इस प्रकार निश्चय हो गया।

चित्रगति ने अपने पुत्र पुरन्दर का राज्याभिषेक धूमधाम से कर दिया। आचार्य दमधर के समीप उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली।

धनदेव एवं धनदत्त के जीव जो इस जन्म में चित्रगति के मनोगति एवं चपलगति नामक लघु भ्राता थे, ने भी उनके साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली।

लम्बे समय तक मुनि चित्रगति ने अपने मुनि जीवन में शास्त्राभ्यास एवं तपाराधना की।

अन्त में आयुष्य पूर्ण होने के समय पादोपगमन अनशनपूर्वक उन्होंने देह त्याग किया तथा माहेन्द्र देवलोक में वे महान् देव हुए।

रत्नवती तथा चित्रगति के दोनों छोटे भाइयों को भी देवत्व की प्राप्ति हुई।

उन्नति की एक और मंजिल पार कर ली गई।

[३]

प्रत्येक जीव का, प्रत्येक भव में एक निश्चित आयुष्य होता है। उसमें से एक श्वास भी कम या अधिक नहीं हो सकती।

देवलोक में स्वर्गीय सुखों का उपभोग करने के पश्चात् चित्रगति का जीव पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में पद्म नामक विजय में सिंहपुर नाम के एक विशाल और समृद्ध नगर में वहाँ के राजा हरिनन्दी की रानी प्रिय-दर्शना की कुक्षि से उत्पन्न हुआ।

साधारण, सामान्य जन भी पुत्र जन्मोत्सव बड़े हर्ष और उल्लास के साथ मनाते हैं। फिर राजाओं का तो कहना ही क्या ? राजा हरिनन्दी ने भी अपने राजकुमार का जन्मोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया। सारे राज्य में बहुत दिनों तक आनन्द और उल्लास छाया रहा। याचकों की बन आई। राजा ने उदारतापूर्वक उन्हें निहाल कर दिया।

शिशुकाल व्यतीत हुआ। तब बालक की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया गया। होनहार तथा कुशाग्र बुद्धि बालक शीघ्र ही समस्त विद्याओं को ग्रहण कर सभी प्रकार की कलाओं में निपुण होता चला गया।

इसी क्रम से धीरे-धीरे वह एक सुदर्शन युवक हो गया।

राज्य के मन्त्री का भी एक पुत्र था। उसका नाम विमलबोध था। वह राजकुमार का समवयस्क था, अतः उन दोनों में आरम्भ से ही मैत्री हो गई थी। जैसे-जैसे समय बीतता जाता था, उनकी मैत्री अधिक प्रगाढ़ होती जाती थी।

एक दिन राजकुमार अपराजित तथा मन्त्री-पुत्र विमलबोध भ्रमण करते-करते किसी वन की ओर निकल गए थे। दुर्भाग्य से उस दिन उन्होंने जिन अश्वों का चयन किया था वे ठीक से सधे हुए नहीं निकले। किसी स्थान पर किसी असाधारण दृश्य अथवा वस्तु को देखकर वे चमक गए और अपने सवारों को भूमि पर गिराकर किसी अज्ञात दिशा में भाग निकले।

अपराजित तथा विमलबोध को बहुत कौतुक का अनुभव हुआ। चिन्ता का तो कोई कारण हो नहीं था, केवल एक संयोग था। अतः निश्चिन्त होकर वे दोनों सुन्दर वनराजि का आनन्द उठाते हुए इधर-उधर घूमने लगे, वह वन-प्रान्तर वास्तव में बहुत ही सघन, हरा-भरा और रमणीय था। ऐसे आकर्षक स्थान पर इससे पूर्व वे कभी नहीं आए थे। आज ही उन्मुक्त होकर विचरण करने का अवसर उन्हें मिला था।

घूमते-फिरते जब वे एक अत्यन्त सघन स्थल पर पहुँचे तब अचानक लतागुल्मों के एक झुरमुट में से निकलकर एक व्यक्ति दौड़ता-हाँफता उनके ठीक सामने आकर राजकुमार के पैरों पर गिर पड़ा और बहुत ही दयनीय स्वर में बोला—

"महाशय ! मेरी रक्षा कीजिए। मैं आपकी शरण में हूँ।"

राजकुमार और मंत्रीपुत्र कुछ समझ नहीं सके कि यह कौन व्यक्ति है, उसे क्या कष्ट अथवा भय है। वे उससे कुछ पूछते कि उसी समय कुछ सैनिक उस व्यक्ति का पीछा करते हुए वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर वह व्यक्ति भय से थर-थर काँपने लगा और एक बार पुनः उसने अपराजित से प्रार्थना की—

"मेरी रक्षा करें, महाशय !"

सैनिकों के सरदार ने आगे बढ़कर अपराजित से कहा—

"श्रीमन् ! कृपा कर इस डाकू को आप हमारे हवाले कर दीजिए। यह बड़ा भयंकर व्यक्ति है। हमारे राज्य में इसने बड़ी तबाही और लूटपाट मचा रखी है।"

यह जानकर कि वह व्यक्ति एक डाकू है, हत्यारा भी हो सकता है, राजकुमार कुछ असमंजस में तो अवश्य पड़ गए, किन्तु उनके क्षत्रिय धर्म ने उन्हें एक निश्चय पर पहुँचा दिया। उन्होंने सैनिकों के सरदार से कहा—

"सैनिक ! हो सकता है कि तुम ठीक कह रहे हो। यह व्यक्ति डाकू हो सकता है। किन्तु यह इस समय मेरी शरण में आया है और शरणागत की रक्षा करना तो क्षत्रियों का परम धर्म है। अतः जो कुछ भी हो, मैं तुम्हें इस व्यक्ति के शरीर का एक बाल भी बाँका नहीं करने दूँगा।"

सैनिकों की संख्या विशाल थी। सरदार मगरूर था। उसने अकड़ कर कहा—

"आप जानते नहीं हम कौन हैं ? हम कोसलराज के सैनिक हैं। यदि आपने हमारा विरोध किया तो.....।"

राजकुमार अपराजित ने व्यंगपूर्वक मुस्कराते हुए बीच में ही कहा—

"तो आप हमसे युद्ध करेंगे। यही न ? देखें जरा आपकी तलवार में कितना पानी है ?"

यह व्यंगोक्ति सुनकर वह सरदार चिढ़ गया। तलवार खींचकर वह राजकुमार पर टूट पड़ा। उसके सैनिकों ने भी उसका अनुसरण किया।

किन्तु गीदड़ों की संख्या कितनी भी हो, वे सिंहशावकों का क्या बिगाड़ सकते हैं ?

राजकुमार अपराजित और विमलबोध असावधान नहीं थे। उनकी तलवारें बिजली के वेग से कोसल सैनिकों को छठी का दूध याद दिलाने लगीं। बेचारे सैनिकों को लेने के देने पड़ गये और अपने प्राण बचाकर वे जिधर सींग समाया, उधर ही भाग निकले।

मैदान साफ हो जाने पर विमलबोध ने राजकुमार से कहा—

"चलिये, वन-भ्रमण के साथ-साथ थोड़ा व्यायाम भी हो गया, किन्तु एक अपराधी को बचाना क्या न्यायसगत कहा जायेगा ?"

"विमल ! जब कोई व्यक्ति शरण में आ जाये तब फिर उसके दोष और अपराध का विचार नहीं किया जाता। तब तो उसकी रक्षा ही की जाती है और क्षमा ही किया जाता है।"

यह उत्तर देकर राजकुमार ने उस डाकू से कहा—

"लो भाई, तुम्हारी रक्षा तो हो गई। अब तुम निर्भय हो। जहाँ चाहो, वहाँ सुखपूर्वक जा सकते हो। किन्तु अब आगे क्या करने का विचार है ?"

"राजकुमार ! आप अवश्य ही कहीं के वीर राजकुमार ही हैं— मैं आपकी कृपा को कभी भूल नहीं सकता। परिस्थितियों ने मुझे डाकू अवश्य बना दिया था, किन्तु आज आपके उच्च विचारों तथा उच्च आचरण ने मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव डाल दिया है। आखिर मैं भी एक मनुष्य ही हूँ। मेरी आँखें खुल गई हैं। मैं आपको वचन देता हूँ कि अब मैं

भी एक ईमानदार आदमी का जीवन व्यतीत करूँगा तथा अपने परिश्रम की कमाई से ही अपना पेट भरूँगा।"

"शाबाश ! अब तुम जा सकते हो।"—कहकर अपराजित ने विमल-बोध को आगे बढ़ने का संकेत किया और वे चल पड़े।

उधर कोसलराज के वे भगोड़े सैनिक अपने राजा के पास पहुँचे और उन्होंने जब सारी घटना उन्हें बताई तो राजा ने एक काफी बड़ी सेना राजकुमार और उसके साथी सहित डाकू को पकड़ने के लिए भिजवा दी। उस सेना ने तीव्र गति से आगे बढ़कर अपराजित तथा विमलबोध को घेर लिया और युद्ध आरम्भ हो गया। किन्तु फिर से वही कहानी दोहरा दी गई। असंख्य भेड़ें इकट्ठी हो जायें तो क्या होता है ? सिंहशावक तो उन सबके लिए एक ही बहुत होता है।

राजकुमार अपराजित ने भेड़ों के उस रेवड़ को हाँक दिया।

यह समाचार सुनकर तो कोसलराज के कोप का पारा आकाश को छू गया। वे गरजे—

"धिक्कार है तुम शस्त्रधारियों को। दो दुधमुँहे बच्चों ने तुम लोगों को मार-मार कर भगा दिया और तुम कहीं जाकर चुल्लू भर पानी में डूब भी न मरे ? हट जाओ यहाँ से। दूर हो जाओ मेरी दृष्टि से। सेनापति ! हमारा अश्व लाओ !"

इस प्रकार अब स्वयं कोसलराज अपने मन्त्री, सेनापति तथा सेना के साथ आगे बढ़े।

अपराजित ने देखा कि अब मामला जरा टेढ़ा है। साहस तो अदम्य है। किन्तु अब युक्ति से भी काम लेना पड़ेगा। तलवार खींचकर वह सैनिकों को काई की तरह काटता हुआ वह सीधा कोसलराज की ओर ही बढ़ा। एक अश्वारोही का सिर भुट्टे की तरह उड़ाकर उसका अश्व उससे छीन लिया और उसी पर सवार होकर वह कोसलराज के सामने जा पहुँचा।

राजा और राजकुमार में भयंकर द्वन्द्व युद्ध होने लगा। कौन जीतेगा और कौन पराजित होगा, यह कहा नहीं जा सकता था।

उसी समय कोसलराज के मन्त्री ने अचानक अपराजित को पहचान लिया और वह चिल्लाकर बोला—

"महाराज ! महाराज ! रुकिए, मैं इस युवक को पहचान गया। यह तो आपके मित्र महाराज हरिनन्दी के राजकुमार अपराजित ही हैं।"

यह सुनकर कोसलराज युद्ध करते-करते रुक गये और उन्होंने अपराजित से कहा—

"अरे बेटे अपराजित, यह क्या, तुम तो मेरे परम मित्र हरिनन्दी के पुत्र हो। अतः मेरे भी पुत्र ही हुए। आओ-आओ, घर चलो। यदि मंत्रीजी ने तुम्हें पहचान न लिया होता तो कोई भी दुःखद घटना घटित हो सकती थी। आओ पुत्र ! जो कुछ हो गया, उसे भूल जाओ।"

अपराजित ने कोसलराज के ये प्रेमपूर्ण वचन सुने और अपनी तलवार म्यान में कर ली।

जहाँ युद्ध की चीख-पुकार मची थी, वहाँ प्रेम और आनन्द की लहर दौड़ गई। सब लोग मिलकर कौसलराज के राजमहल में लौट आये।

कोसलराज ने अपराजित की खूब आवभगत की। अपने मित्र के पुत्र को उन्होंने अपने ही पुत्रवत् माना। इसके साथ ही उन्होंने अपनी पुत्री माला का विवाह भी राजकुमार के साथ कर दिया, क्योंकि राजकुमार अपराजित सर्वगुण सम्पन्न युवक थे तथा माला भी विवाह के योग्य हो चुकी थी।

इस प्रकार अपराजित तथा विमलबोध ने बहुत-सा समय कोसलराज का आतिथ्य स्वीकार करते हुए आनन्दपूर्वक व्यतीत किया।

बहुत दिन निकल गये।

राजकुमार को विचार आया कि उसके माता-पिता अब चिन्ता कर रहे होंगे कि इतने दिन बीत गये, राजकुमार अब तक लौटकर क्यों नहीं आया ? अतः उसने कोसलराज से विदा माँगी। किन्तु कोसलराज प्रेमवश उसे अधिक से अधिक दिन अपने पास ही रखना चाहते थे। अपराजित बार-बार आज्ञा मांगता किन्तु हर बार वे कुछ और समय रुकने का आग्रह करते रहे।

आखिर अपराजित ने देखा कि ऐसे तो काम नहीं चलेगा। उसने विमलबोध से सलाह करके उस नगरी से चुपचाप ही भाग निकलने का विचार किया।

इस निश्चय के अनुसार एक रात्रि को दोनों मित्र चुपचाप अपने-

अपने शस्त्रों से सज्जित होकर पहरेदारों और द्वारपालों, दास और दासियों की दृष्टि बचाकर राजमहल से निकल पड़े।

महल से बाहर आकर अपराजित ने विमलबोध से कहा—

"मित्र ! रात अँधेरी है। मार्ग तो खोज लोगे न ?"

"आप चिन्ता न करें, मैंने सब मार्ग ठीक से पहचान रखे हैं।"

"तब ठीक है, चलो जल्दी। यह अँधेरी रात एक प्रकार से हमारी सहायता ही कर रही है।"

"हाँ, राजकुमार ! यदि उजाला होता तो कोई भी पहरेदार हमें देख सकता था और फिर महाराज का प्रेमपूर्ण आग्रह हमें रोक सकता था।"

"हाँ। बस अब चुपचाप निकल चलो।"

राजकुमार के इतना कहने के बाद दोनों मित्र दबे-पाँव तेज गति से चल पड़े और गलियों-गलियों में होते हुए शीघ्र ही नगर से बाहर पहुँच गये।

चलते-चलते वे एक सुनसान-सी जगह से जब गुजर रहे थे तब उन्हें अचानक किसी स्त्री का क्रन्दन सुनाई दिया। वे कान लगाकर सुनने लगे। उन्हें कुछ अस्पष्ट स्वर सुनाई दिया—

"हे भगवान्·····कोई मेरी रक्षा करो·····हाय ! क्या यह पृथ्वी वीरों से विहीन हो गई है ?·····क्या इस भूतल पर एक भी पुरुष शेष नहीं बचा जो इस दुष्ट से मेरी रक्षा कर सके ? हे प्रभु, रक्षा·····कोई मेरी रक्षा करो·····।"

ये स्वर, यह ध्वनि जिधर से आ रही थी उस तरफ कुछ दूर पर अन्धकार में भी एक छोटी-सी भवन की आकृति दिखाई दे रही थी।

दोनों मित्र तेजी से उसी दिशा में दौड़े।

समीप पहुँचने पर उन्हें स्पष्ट रूप से एक छोटा-सा मन्दिर दिखाई दिया। स्त्री की करुण पुकार उसी मन्दिर के भीतर से आ रही थी। राजकुमार अपराजित अपनी तलवार म्यान से निकालकर भीतर की ओर लपका। विमलबोध उसके पीछे-पीछे ही लगा था।

मन्दिर के भीतर प्रविष्ट होते ही राजकुमार ने देखा—काली माता का रुद्र रूप, उसके सामने ही एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री भूमि पर अस्त-व्यस्त

स्थिति में पड़ी चीख-चिल्ला रही थी तथा एक विद्याधर नंगी तलवार लिए उसे डरा-धमका रहा था।

अपराजित ने एक भी क्षण व्यर्थ न गँवाते हुए ललकार लगाई—

"ठहर जा, दुष्ट ! एक कदम भी आगे बढ़ाया तो तेरा सिर धड़ से अलग होगा।'

वह विद्याधर एकाएक आ पहुँची इस बाधा से एक क्षण तो घबरा कर हक्का-बक्का रह गया। किन्तु दूसरे ही क्षण सावधान होकर अपराजित की ओर बढ़ा और बोला—

"कौन हो तुम ?"

"यह भी पता चल जाएगा। पहले तुम बताओ कि इस अबला पर अत्याचार क्यों कर रहे हो ?"

"तुम अपना काम देखो, युवक ! मेरे कार्य में हस्तक्षेप न करो। इसी में तुम्हारी भलाई है। अन्यथा इस जिद्दी लड़की के साथ-साथ तुम्हें भी यमलोक का रास्ता देखना पड़ेगा।"

"यमलोक का रास्ता कौन देखता है और कौन नहीं; यह तो तुम्हें अभी पता चला जाता है, सावधान.....।"

यह कहते हुए अपराजित उस विद्याधर के साथ भिड़ गया। दोनों की तलवारें आपस में टकराईं और चिनगारियाँ निकल पड़ीं। विकट असियुद्ध आरम्भ हो गया।

उस कामान्ध विद्याधर ने सोचा था कि अपराजित जैसे एक सामान्य नवयुवक को वह देखते-देखते ही चुटकियों में मसल देगा। किन्तु जब उसने देखा कि अपराजित के रूप में उसे सेर का सवा सेर ही मिला है तब उसके पसीने छूटने लगे.....

ऐसा नहीं कि वह विद्याधर शक्तिशाली नहीं था। आखिर वह एक विद्याधर था। शक्तिशाली भी था और बहुत सी विद्याएँ भी जानता था। किन्तु उसने देखा कि अपराजित के सामने उसकी एक भी विद्या नहीं चल पा रही है। उसने वार पर वार किए, दाँव पर दाँव आजमाए, किन्तु उन सबका सवाया उत्तर अपराजित के पास मौजूद था।

आखिर विद्याधर ने नागपाश फेंका।

नागपाश एक विकट अस्त्र होता है। उस पाश से बच पाना बड़े-

बड़े महारथियों के लिए भी दुष्कर होता है। कहते हैं कि वीर हनुमान भी रावण के पुत्र मेघनाथ के साथ युद्ध में एक बार नागपाश से आबद्ध हो गए थे। किन्तु अपराजित ने उस भयंकर पाश को भी व्यर्थ कर दिया।

विद्याधर अब निराश हो गया। वह थक कर चूर हो चुका था। आखिर अपराजित ने एक वार ऐसा किया कि उसकी तलवार उसके हाथ से छूटकर दूर जा गिरी और वह असहाय होकर अपने प्राणों की भिक्षा माँगने के लिए विवश हो गया।

अपराजित ने उसे मारा नहीं।

किन्तु द्वन्द्व युद्ध के दौरान लगे घावों तथा थकान एवं ग्लानि के कारण वह विद्याधर मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा।

अपराजित पाप से घृणा करने वाले व्यक्तियों में से था—पापी से नहीं।

अतः उसने तथा विमलबोध ने समुचित उपचार करके विद्याधर को शीघ्र ही होश में ला दिया। जब वह होश में आ गया तब अपराजित ने उससे पूछा—

"अब बताओ कि तुम कौन हो और इस अबला पर अत्याचार क्यों कर रहे थे ?"

विद्याधर ने बताया—"हे वीर महाभाग ! सर्व प्रथम तो मैं आपके प्रति कृतज्ञता प्रगट करना चाहता हूँ कि आपने मुझे स्त्री-हत्या के पाप से बचा लिया और नरकवास से मेरी रक्षा कर ली। क्योंकि यदि आप ठीक समय पर यहाँ आकर मुझे रोक न लेते तो आज मुझसे यह निकृष्ट पाप कर्म होने ही वाला था।

"अब मैं आपको सारी कथा विस्तार से सुनाता हूँ। मैं श्रीषेण नामक विद्याधर का पुत्र हूँ। मेरा नाम सुरकान्त है। यह सुन्दरी रत्नमाला है। यह रथनूपुर नामक नगर के राजा अमृतसेन की पुत्री है। एक बार किसी ज्योतिषी ने बताया था कि इसका विवाह राजा हरिनन्दी के पुत्र अपराजित से होगा....."

इतना सुनते ही अपराजित तथा विमलबोध की दृष्टि आपस में मिली। उनके ओठों पर अत्यन्त मन्द स्मित उभरा, किन्तु कोई कुछ बोला नहीं। वे चुपचाप सुनते रहे। विद्याधर ने अपना कथन जारी रखा—

"हे महाभाग! उस ज्योतिषी के कथन के उपरान्त भी मैं इस सुन्दरी पर आसक्त हो गया था। मैं इससे विवाह करना चाहता था। मैंने अनेक उपाय किये। इससे अनुनय-विनय की। डराया धमकाया भी। किन्तु यह तो टस से मस नहीं हुई। इसका तो सदैव एक ही उत्तर रहा—'मैं अपने मन से कुमार अपराजित का वरण कर चुकी हूँ। अब वे ही मेरे स्वामी हैं। अन्य कोई नहीं।'

"मैं इसके उत्तर से चिढ़ता रहा, कुढ़ता रहा। अन्त में अन्य कोई उपाय न देखकर मैं इसका अपहरण करके इसे यहाँ ले आया। अन्तिम बार मैंने इससे आग्रह किया कि यह मेरी बात मान ले, मुझसे विवाह कर ले। किन्तु यह मानी नहीं। अतः मैं निराश और कुपित होकर इसका वध करने के लिये तैयार हो गया था कि····"

"कि हम लोग टपक पड़े और तुम्हारे इच्छित कार्य में हमने बाधा उपस्थित कर दी।"—अपराजित ने मुस्कराते हुए कहा।

"अब मुझे अधिक लज्जित न करें महाशय!"—विद्याधर ने कहा—"वस्तुतः आपने न केवल रत्नमाला की, बल्कि मेरी भी रक्षा की है। अन्यथा आज मैं घोर पाप का भागी बन गया होता। अब आप कृपा कर अपना परिचय भी दें, ताकि मैं अपने उपकारी के विषय में जान सकूँ, उसे स्मरण रख सकूं।"

अपराजित स्वयं अपना परिचय देते हुए क्या अच्छा लगता जबकि मन्त्रीपुत्र विमलबोध उसके साथ था, अतः विमलबोध ने ही बताया—

"आप पर उपकार करने वाला व्यक्ति अन्य कोई नहीं, स्वयं राजकुमार अपराजित ही हैं····"

इतना सुनते ही रत्नमाला ने चौंककर त्वरित दृष्टि अपराजित पर डाली और तत्क्षण हर्षित, रोमांचित और लज्जित होकर छुई-मुई-सी सिमट गई।

वातावरण बदल गया।

वैरभाव के स्थान पर प्रेमभाव आ गया।

भय के स्थान पर विश्वास आ गया।

और उसी समय अपनी अपहृत बेटी को खोजते हुए राजा अमृतसेन तथा रानी कीर्तिमती भी वहाँ आ पहुँचे।

राजा को जब सारी घटना की जानकारी मिली तो प्रचण्ड होकर वे विद्याधर सुरकान्त का वध करने के लिए उद्यत हो गये। सुरकान्त शान्त रहा। उसने अपने बचाव का कोई प्रयत्न नहीं किया। दृष्टि भूमि पर झुका ली। किन्तु अपराजित ने राजा अमृतसेन को रोक लिया—

"महाराज! स्मरण कीजिए—क्षमा वीरस्य भूषणम्—आप वीर पुरुष हैं। इस सुरकान्त से अपराध अवश्य हुआ है, और अपराध भी निःसन्देह गम्भीर है। इसे दण्ड ही देना होता तो वह मैं ही उसे अब तक दे चुका होता।

"किन्तु इसे पश्चात्ताप है महाराज! अज्ञानवश प्राणी से अनेक अपराध और भूलें हो जाती हैं। किन्तु ज्ञान होने पर भूल को स्वीकार कर लेना तथा भविष्य में ऐसी भूल कभी न करने का निश्चय कर लेना भी एक अच्छी बात है। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि इस युवक विद्याधर को आप अपनी महानता का परिचय देते हुए अब क्षमा प्रदान करें।"

अपराजित के इतने विवेकपूर्ण आग्रह को राजा अमृतसेन ठुकरा नहीं सके। उन्होंने सुरकान्त को क्षमादान दे दिया।

और उसी समय उन्होंने घर आई हुई गंगा में स्नान भी कर लिया —अपराजित का विवाह उन्होंने रत्नमाला के साथ वहीं पर कर दिया।

मृत्यु की प्रतीक्षा करती हुई रत्नमाला को मनचाहा वरदान मिल गया।

राजा अमृतसेन ने अपराजित से राजमहल में चलने का आग्रह किया किन्तु अपराजित ने विनयपूर्वक कहा—

"महाराज! यह मेरा सौभाग्य होता। किन्तु कतिपय कारणों से मैं इस समय आपकी आज्ञा का पालन करने में असमर्थ हूँ। आपका सान्निध्य एवं आतिथेय मेरे लिए वरदान के तुल्य हैं। किन्तु मैं इस वरदान को भविष्य में कभी प्राप्त करूँगा। इस समय तो मुझे जाना ही होगा। अपने नगर में पहुँचकर मैं आपको सूचना भेजूँगा। तब आप रत्नमाला को वहाँ भेज दीजिएगा।"

"अच्छा, पुत्र! हमारे आशीर्वाद सदैव तुम्हारे साथ रहेंगे। शीघ्र ही सिंहपुर पहुँचकर हमें सूचना भेजना तथा महाराज हरिनन्दी जी एवं महारानी प्रियदर्शना जी को हम दोनों का नमस्कार भी कहना।"

इस प्रकार राजा अमृतसेन तथा रानी कीर्तिमती ने प्रेमपूर्ण विदा-वचन कहे और रत्नमाला के साथ वे अपने नगर को लौट गए।

राजकुमार अपराजित ने स्वयं तो सुरकान्त को क्षमादान दिया ही था, साथ ही राजा अमृतसेन के भीषण कोप का भाजन बनने से भी उसे बचा लिया था। अतः राजकुमार के प्रति उस विद्याधर की कृतज्ञता का कोई अन्त नहीं था। उसने विदा लेने से पूर्व अपराजित को एक दिव्य मणि तथा कुछ अन्य जड़ी-बूटियाँ देते हुए कहा—

"राजकुमार! आपके जैसा वीर तथा महान पुरुष मैंने आज तक अपने जीवन में अन्य कोई नहीं देखा। आपका हृदय विशाल है। आप क्षमा के सागर हैं। उदारता में आप अनन्य है। आपने मुझ पर जो उपकार किया है वह अद्‌भुत हैं, तथा मैं उसका बदला आपको किसी भी तरह दे ही नहीं सकता। किन्तु मेरे पास यह एक दिव्य मणि है और कुछ जड़ी-बूटियाँ हैं। कृपया इन्हें ही स्वीकार कीजिए। इस मणि के जल में ये जड़ी-बूटियाँ घिसकर लगाने से गम्भीर से गम्भीर घाव भी तुरन्त ही ठीक हो जाता है तथा किसी भी प्रकार की मूर्च्छा तत्काल दूर हो जाती है।"

अपराजित ने विद्याधर से वे वस्तुएँ ले लीं और उत्तर में कहा—

"प्रिय सुरकान्त! इन वस्तुओं के लिए धन्यवाद। किन्तु तुम मेरी यह बात सदैव स्मरण रखना कि कभी किसी असहाय व्यक्ति पर कोई अत्याचार न करना। विशेष रूप से कभी किसी अबला को नहीं सताना। अपने मन पर हमेशा अंकुश रखना चाहिए।"

"ऐसा ही होगा, राजकुमार! आप मेरी ओर से निश्चिन्त रहें एवं यही सोचें कि मैं सुबह का भूला अब शाम को घर लौट आया हूँ।"

इतना कहकर विदा होने से पूर्व उसने विमलबोध को भी एक ऐसा चूर्ण दिया जिसके प्रयोग से व्यक्ति एकदम अदृश्य हो जाता था। इसके बाद उसने कहा—

"अच्छा राजकुमार! अब मुझे आज्ञा दीजिए। विदा।"

विद्याधर सुरकान्त यह कहकर चला गया।

राजकुमार और विमलबोध भी वहाँ से चल पड़े।

उनका आगे का मार्ग एक ऐसे जंगल में से होकर जाता था जो कि बहुत सघन था। वहाँ चलते-चलते राजकुमार को बहुत जोर की प्यास

लग आई। आस-पास कहीं जल दिखाई न देने पर विमलबोध ने राजकुमार से कहा—

"मित्र ! आप इस हरे-भरे वृक्ष के नीचे बैठकर विश्राम कीजिए। मैं शीघ्र ही कहीं से जल खोजकर अभी लिए आता हूँ।"

यह कहकर विमलबोध जल की खोज में चला गया। राजकुमार वृक्ष की छाया में बैठ गया।

कुछ समय बीत गया। और जब विमलबोध जल लेकर लौटा तो राजकुमार का कहीं पता नहीं था। पहले तो उसे विस्मय हुआ। उसने इधर-उधर देखा, राजकुमार को उसके नाम से पुकार लगाई, किन्तु जब खोज का कोई परिणाम नहीं निकला और पुकारने पर कोई उत्तर नहीं मिला तो वह चिन्तित हो गया।

उसने बहुत खोजा। पुकार-पुकार कर उसका गला सूखने लगा। किन्तु सब कुछ निरर्थक। आखिर हार-थककर मित्र-वियोग की दुश्चिन्ता से वह एक स्थान पर मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

जाने कितनी देर तक वह इसी प्रकार मूर्च्छितावस्था में पड़ा रहा। उसके बाद कुछ तो शीतल वायु के झकोरों से तथा कुछ दो विद्याधरों के उपचार से उसकी चेतना लौटी। उसने नेत्र खोलकर जब उन विद्याधरों को देखा तो पूछा—

"कौन हैं आप लोग ? क्या आपने मेरे मित्र राजकुमार अपराजित को इस वन में कहीं देखा है ? यदि देखा हो तो कृपया शीघ्र बताइये। मैं उसके वियोग से व्याकुल हूँ। यदि उनका पता न चला तो मैं महाराज हरिनन्दी को क्या मुँह दिखाऊँगा ?"

विमलबोध की यह व्याकुलता देखकर उन विद्याधरों में से एक ने कहा—

'बन्धु विमलबोध, आप चिन्ता न करें। आपके मित्र राजकुमार अपराजित सकुशल हैं। वे हमारे महाराज विद्याधर भुवनभानु के महल में विश्राम कर रहे हैं और आप ही के समान व्याकुलता से आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हम आपको लेने ही आए हैं।'

'किन्तु वे वहाँ पहुंच कैसे गये ? मुझे छोड़कर, बिना मुझे कहे, बिना मेरी चिन्ता किए वे आखिर इस प्रकार चले कैसे गये ?'

"मन्त्रिपुत्र ! आपके मित्र आपको इस प्रकार चिन्तित छोड़कर कैसे जा सकते थे ? वस्तुतः हम ही उन्हें उठाकर ले गए थे। बात यह है कि हमारे महाराज समीप ही एक वन में अपने विशाल प्रासाद में निवास करते हैं। उनके कमलिनी तथा कुमुदिनी नामक दो सुन्दरी युवती कन्याएँ हैं। किसी ज्ञानी ने उन्हें बताया था कि इन कन्याओं का विवाह राजकुमार अपराजित से होगा और वे उचित समय आने पर स्वयं ही इस वन में चले आएंगे। तब आप उन्हें यहाँ लाकर अपनी पुत्रियों का विवाह उनके साथ कर दीजियेगा।

"वह अवसर अब आ गया। हमें पता चला कि आप लोग यहाँ आ गये हैं। तब जिस समय आप राजकुमार के लिए जल लेने के लिये गये थे उस समय हम उन्हें असावधान अवस्था में उठाकर महाराज के प्रासाद में ले गये···।"

"क्यों ? आपने मेरे लौटने की प्रतीक्षा क्यों नहीं की ?"—कुछ रोष सहित विमलबोध ने पूछा।

"क्षमा करें, मन्त्रिपुत्र ! यह भूल हम से हो गई। हमें खेद है।"

"अच्छा, ठीक है। किन्तु राजकुमार मुझे छोड़कर कैसे चले गये ? मैं उनके वियोग में कितना व्याकुल हो रहा हूँ। मुझे कितनी चिन्ता हो रही थी ?"

"आपकी चिन्ता स्वाभाविक है। मित्र को मित्र की चिन्ता न होगी तो किसे होगी ? आप ही के समान राजकुमार भी आपके लिए चिन्तित हैं। वस्तुतः जैसा कि हमने कहा—हम लोग उन्हें असावधान अवस्था में उठा ले गये थे। सावधान होते ही उन्होंने हमें आपको ले आने के लिए भेजा है। कृपया अब शीघ्र चलिये। राजकुमार आपके लिए उतने ही व्याकुल हैं जितने कि आप उनके लिये।"

"चलिए चलिए, विचित्र हैं आप लोग।"—कहकर विमलबोध उन विद्याधरों के साथ चल पड़ा।

विद्याधर राजा भुवनभानु के प्रासाद में पहुँचने तथा राजकुमार से मिलने पर विमलबोध का क्रोध तथा चिन्ता काफूर हो गई।

राजा भुवनभानु ने राजकुमार अपराजित से कहा—

"राजकुमार ! लीजिए,अब तो आपके मित्र भी आ गये। अब विवाह

विधि सम्पन्न कराये जाने की आज्ञा दीजिए। मेरी पुत्रियाँ बड़ी भाग्यवान हैं कि उन्हें आपके समान वर की प्राप्ति हो रही है।"

राजकुमार की स्वीकृति से कमलिनी तथा कुमुदिनी के साथ उनका विवाह सानन्द सम्पन्न किया गया।

राजा भुवनभानु तथा उनकी रानी बहुत प्रसन्न थे। अपनी पुत्री के हाथ पीले कर देने पर कौन पिता प्रसन्न एवं निश्चिन्त नहीं होता? और फिर जिन्हें अपने दामाद के रूप में राजकुमार अपराजित जैसा पुरुषश्रेष्ठ मिल जाय उनकी प्रसन्नता का तो कहना ही क्या?

अतः सारे नगर में हर्षोल्लास का वातावरण बहुत दिनों तक छाया रहा।

राजा-रानी ने किसी भी प्रकार राजकुमार को उस स्थान से जल्दी नहीं जाने दिया। काफी समय तक अपराजित और विमलबोध को उसी स्थान पर ठहरना पड़ा।

किन्तु अन्ततः उन्होंने विदा ले ही ली।

यात्रा पुनः आरम्भ हो गई।

चलते-चलते, चलते-चलते वे एक दिन श्रीमन्दिर नामक नगर के समीप जा पहुँचे।

श्रीमन्दिर वस्तुतः श्रीमन्दिर ही था। उसकी शोभाश्री ऐसी अद्भुत, इतनी आकर्षक थी कि राजकुमार और विमलबोध उसे देखते ही रह गए। उनका मन उस नगर की शोभा और रमणीयता से बहुत आकर्षित हुआ।

अतः उन्होंने कुछ दिन उसी नगर में रहने का निश्चय किया। विद्याधर सुरकान्त द्वारा प्रदत्त मैत्री चिह्न उस मणि के प्रभाव से उन्होंने समस्त आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था की और एक भवन में सुखपूर्वक दिन व्यतीत करने लगे।

× × × ×

एक दिन उस रमणीय नगर रूपी सरोवर में, जिसमें सदैव आनन्द की लहरें ही उठती-गिरती-लहराती रहती थीं, एकाएक तुमुल तूफान-सा आ गया। आनन्द और उल्लास की शान्त और शीतल लहरों ने मानो उत्ताल, पर्वताकार प्रलयंकारी रूप ग्रहण कर लिया।

अपराजित और विमलबोध ने देखा—नागरिक बदहवास से इधर

से उधर पलायन कर रहे हैं। कोई किसी की सुनता नहीं। सभी के मुख पर चिन्ता की रेखाएँ खिची हुई हैं। घबराहट का कोई अन्त नहीं।

यह देखकर वे आश्चर्य में पड़ गये कि एकाएक इस नगर को यह हो क्या गया ? क्या आस-पास कहीं कोई ज्वालामुखी है जो फूट पड़ा है ? या कि भूकम्प आने के लक्षण प्रगट हुए हैं ? अथवा किसी शक्तिशाली शत्र ने नगर पर आक्रमण कर दिया है ? आखिर हुआ क्या है ?

जब कुछ भी समझ में नहीं आ सका तब अपराजित ने विमलबोध को नगर में जाकर इस हलचल का सही कारण ज्ञात करने के लिए भेजा। वह कारण ज्ञात करने के लिए विमलबोध को ठेठ राजमहलों तक ही जाना पड़ा। वहाँ द्वार पर इधर से उधर आ-जा रहे अधिकारियों से उसने पूछ ताछ की—

"महाशय ! मैं एक परदेशी हूँ। आपके समृद्ध नगर की शोभा देख-कर यहाँ ठहर गया हूँ। किन्तु आज अचानक देखता हूँ कि सारे नगर में कोलाहल और चिन्ता व्याप्त है। भगदड़ मची हुई है। यदि आपत्ति न हो तो कृपया इसका कारण मुझे बताएँ।"

एक अधिकारी ने देखा कि प्रश्नकर्ता सौम्य, प्रभावशाली, सज्जन पुरुष है। उसने बताया—

"श्रीमान् ! क्या बताया जाय, हमारे नगर पर घोर विपत्ति के बादल छा गए हैं। किसी दुष्ट व्यक्ति ने हमारे महाराज के वक्षस्थल में कटार भोंक दी है। घाव मर्मान्तिक है।"

"ओह ! बहुत दुःखद समाचार है। किन्तु राजवैद्य.....।"

"कोई उपचार काम में नहीं आ रहा भाई ! जाने भगवान् की क्या इच्छा है।"—कहकर वह अधिकारी व्यस्त हो गया।

यह सूचना पाकर विमलबोध तीव्र गति से अपने आवास की ओर लौट पड़ा।

उधर राजमहल में जब राजवैद्यों ने हाथ पर हाथ धर लिये तथा नगरवधू कामलता की संरोहण औषधि भी जब कारगर सिद्ध न हुई जिससे कि उसने आज तक अनेक गम्भीर घावों का उपचार सफलतापूर्वक किया था, तब तो आशा की अन्तिम किरण भी लुप्त होती दिखाई दी।

किन्तु एकाएक नगरवधू कामलता को एक विचार सूझ आया। उसने मन्त्री जी से कहा—

"अमात्यवर! अपने नगर में कुछ दिनों से दो परदेसी व्यक्ति आकर ठहरे हुए है। वे कोई विशिष्ट पुरुष दिखाई देते हैं। मेरे चरों ने सूचना दी है कि वे सर्वसमर्थ प्रतीत होते हैं। सम्भव है कि हमारी इस विपत्ति में वे कुछ सहायक सिद्ध हो सकें..... ....।"

"सम्भव है.....प्रयत्न तो करना ही चाहिए.....समरकेतु! दौड़ो, कामलता जिन व्यक्तियों के विषय में बता रही है उन्हें शीघ्र ही यहाँ लेकर आओ। एक क्षण का भी विलम्ब न हो.....जाओ।"

मन्त्री ने आदेश दिया। समरकेतु कामलता से स्थान का पता पूछकर पवनवेग से उड़ा।

किन्तु उसे अधिक दूर जाना ही नहीं पड़ा। मार्ग में ही उसे अपराजित और विमलबोध तीव्र गति से राजमहल को ओर आते दिखाई दे गए और कामलता के द्वारा बताये गये संकेतों से उसने उन्हें पहचान भी लिया। उन्हें देखते ही वह बोला—

"अतिथि बन्धुओ! मैं आपको ही सेवा में आ रहा था। आइये, शीघ्रता कीजिए। महाराज की श्वास उखड़ने लगी है। आइये, इधर से चलें, यह मार्ग हमें सीधा महाराज के कक्ष में ही ले जाएगा।"

समरकेतु द्वारा दिखाये मार्ग से वे लोग बहुत जल्दी राजकक्ष में जा पहुँचे। उन्हें देखते ही अमात्य ने कहा—

"परस्पर परिचय का अभी समय नहीं है महाशय! महाराज की अवस्था गम्भीर है....।"

"आप शान्त रहें, चिन्ता न करें।"—इतना ही कहकर अपराजित ने एक क्षण भी व्यर्थ गंवाए बिना विद्याधर सुरकान्त की दी हुई मणि को जल में धोकर उस जल में जड़ी-बूटियाँ मिलाकर उनका लेप महाराज के घाव पर कर दिया।

जादू-सा हो गया।

उपचार नहीं, जादू ही।

उपचार में तो कुछ न कुछ समय लग ही जाता है, किन्तु जादू तो एक पल में हो जाया करता है।

वही हुआ।

इधर वह लेप महाराज के घाव पर लगा और उधर उन्होंने आँखें खोल दीं और उठकर बैठने का उपक्रम करने लगे। राजवैद्य ने उन्हें सहारा देकर मसनद के सहारे बिठा भी दिया और चकित भाव से वे अपराजित को देखने लगे।

महाराज ने स्वस्थता का अनुभव किया और अपराजित से कहा—

"किन महापुरुष का ऋणी हूँ मैं ? कौन हैं आप ? अपना परिचय देने की कृपा करेंगे ?"

"ऋण का तो कोई प्रश्न ही नहीं है, महाराज ! रहा परिचय तो वह भी छोटा-सा ही है। सिंहपुर के स्वामी हरिनन्दी का पुत्र, मैं अपराजित हूँ और यह मेरा मित्र विमलबोध है।"

"अपराजित ! मेरे मित्र राजा हरिनन्दी के पुत्र ? हमारे धन्यभाग्य! क्या संयोग है ! मन्त्री जी····।"

"आप विश्राम करें, महाराज ! मैं समझ गया। राजकुमार और उनके मित्र अब हमारे राज-अतिथि हैं।"

"हाँ, मैं यही कहना चाहता था। इन्हें किसी प्रकार····।"

"महाराज, घाव अब भी हरा ही है," अपराजित ने कहा—"आप कुछ समय तक पूर्ण विश्राम करें। हम तो अपने घर में ही हैं, ऐसा ही मानिए।"

राजवैद्य ने सहारा देकर महाराज को पुनः सुख से लिटा दिया और वहाँ उपस्थित सभी लोग कक्ष से बाहर आ गये, चुपचाप, ताकि महाराज की शान्ति और विश्राम में बाधा न पड़े।

इसके बाद अतिथियों को नगर का अपना आवास छोड़कर राजमहल में ही आना पड़ा।

महाराज सुभद्र भी बहुत जल्दी पूर्ण स्वस्थ हो गए।

अपनी राजकुमारी रम्भा का विवाह महाराज सुभद्र ने अपराजित के साथ कर दिया, इस आग्रह के साथ—"राजकुमार अपराजित ! पुत्र ! मैं अपनी प्यारी बेटी, रम्भा तुम्हें सौंपता हूँ। इसके गुणों के विषय में मैं अपने ही मुख से तुम्हें क्या कहूँ ? इसके साथ रहकर तुम्हें स्वयं ही ज्ञात हो जायगा कि यह कितनी सुशीला, बुद्धिमती एवं परिश्रमी भी है।"

अपराजित ने विनम्र उत्तर दिया था—"महाराज! आपकी पुत्री योग्य पिता की योग्य पुत्री होगी, इसमें सन्देह का अवकाश ही कहाँ है?"

"यह तुम्हारी महत्ता है, राजकुमार! सदा सुखी रहना। एक-दूसरे के सुख-दुःख का विचार रखना। परस्पर एक-दूसरे के मनोभावों का आदर करना।"—महाराज सुभद्र ने इसी प्रकार सीख के, आशीर्वाद के कुछ वचन कहे और फिर अन्त में अपने मित्र का स्मरण करते हुए कहा—"मेरे मित्र महाराज हरिनन्दी, अपने पिताश्री को मेरा सप्रेम नमस्कार और अभिवादन कहना। कुशलक्षेम की सूचना देते रहना।"

इस प्रकार श्रीमन्दिर नगर में कुछ समय आनन्दपूर्वक व्यतीत करके अपराजित एवं विमलबोध पुनः आगे बढ़ गए।

× × ×

मार्ग में पड़ने वाले ग्रामों एवं पुरों को देखते हुए दोनों मित्र कुण्डलपुर नामक नगर में पहुँचे। नगर से बाहर एक बहुत ही सुन्दर उद्यान था। उस उद्यान में एक केवली भगवान् ठहरे हुए थे। उनके दर्शन प्राप्त कर वे दोनों बहुत प्रसन्न हुए। उनके धर्मोपदेश को सुनकर उनके मन को बहुत शान्ति मिली। उपदेश-श्रवण के पश्चात् अपराजित ने केवली भगवान से प्रश्न किया—

"भगवन्! मैं भव्य हूँ या अभव्य?"

केवलज्ञानी भगवान् ने बताया—"राजकुमार! तुम भव्य हो। इतना ही नहीं, पाँचवें जन्म में तुम बाईसवें तीर्थंकर बनोगे।"

"और भगवन्! मेरा यह मित्र विमलबोध? इसका क्या होगा?"

"यह तुम्हारा प्रमुख गणधर बनेगा, राजकुमार!"

इस भविष्य कथन को सुनकर दोनों मित्र बहुत प्रसन्न हुए। जैनधर्म में उनकी आस्था और भी अधिक दृढ़ हो गई तथा उनकी धर्मभावना भी पहले से भी अधिक गहरी हो गई। जब तक वे केवली भगवन्त उस उद्यान में ठहरे, वे दोनों उनकी सेवा में वहीं रहे और प्रतिदिन धर्मोपदेश का लाभ लेते रहे।

कुछ दिन पश्चात् केवली भगवान् विहार कर गए और तब दोनों मित्र भी वहाँ से आगे चल पड़े।

× × ×

जनानन्दपुर नामक एक नगर था। राजा जितशत्रु वहाँ राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम था धारिणी। गर्भकाल पूर्ण होने पर रानी ने एक अत्यन्त सुन्दर, सुकुमार बालिका को जन्म दिया। उसका नाम रखा गया प्रीतिमती। वस्तुतः रत्नमती के जीव ने ही अब प्रीतिमती के रूप में जन्म लिया था।

बालिका दूज के चाँद के समान बढ़ने लगी। जब उसकी अवस्था शिक्षा ग्रहण के योग्य हुई तो राजा जितशत्रु ने बहुत ही सुयोग्य शिक्षकों तथा कलाचार्यों को उसकी शिक्षा-दीक्षा के लिए नियुक्त किया। बालिका प्रीतिमती बहुत शीघ्र ही, बड़ी सरलता से सभी विद्याओं एवं कलाओं को हृदयंगम करने लगी।

देखते ही देखते वह युवावस्था में भी आ पहुँची तथा समस्त कलाओं में निष्णात भी हो गई।

अब राजा-रानी को, युवा बेटी के माँ-बाप को, अपनी पुत्री के लिए योग्य वर की चिन्ता भी होने लगी। योग्य कन्या के लिए सुयोग्य वर भी चाहिये। राजा जितशत्रु ने विचार किया कि एक बार प्रीतिमती से भी पूछ तो लेना ही चाहिए कि उसे किस प्रकार के पुरुष से विवाह-बन्धन में बँधना प्रीतिकर होगा। अतः उन्होंने अपनी पुत्री से एक दिन एकान्त में पूछा—

"बेटी ! अब समय आ गया है कि तुम्हारे विवाह की चिन्ता हम करें। तुम जितनी गुणवती, बुद्धिमती एवं रूपवती हो, उसी के अनुसार हम किसी सुयोग्य राजकुमार की तलाश करना चाहते हैं। इस विषय में हम तुम्हारा दृष्टिकोण भी जानना चाहते हैं। बोलो, निस्संकोच होकर कहो कि तुम कैसे पुरुष से विवाह करना चाहोगी ?"

नारी सुलभ लज्जा का त्याग तो किया ही नहीं जा सकता। अतः प्रीतिमती ने सिर झुकाकर धीमे स्वर में उत्तर दिया—

"पिताजी ! यदि आप मेरी इच्छा पूछते ही हैं तो फिर मैं बताती हूँ। मैं किसी ऐसे पुरुष श्रेष्ठ से विवाह करना चाहूँगी कि जो विद्या एवं कलाओं में मुझसे भी अधिक श्रेष्ठ हो, निपुण हो, पारंगत हो।"

राजा जितशत्रु अपनी पुत्री के इस उत्तर से मन ही मन प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—

"किन्तु बेटी, इस बात का निर्णय कैसे हो पाएगा कि कोई पुरुष विद्या-कला में तुमसे श्रेष्ठ है ?"

"यह तो सहज बात है पिताजी ! मैं प्रश्न करूंगी। मेरे प्रश्नों का उत्तर देते हुए जो भी मुझे निरुत्तर कर देगा, वही मुझसे अधिक ज्ञानवान होगा।"

राजा जितशत्रु ने कुछ क्षण विचार किया और फिर कहा—"अच्छा बेटी, तुम ठीक ही कहती हो। अब तुम जाओ। मैं कुछ व्यवस्था का विचार करता हूँ।"

प्रीतिमती के भीतर अन्तःपुर में चले जाने पर राजा ने अपने मंत्री को बुलाकर परामर्श किया और फिर उस परामर्श के परिणामस्वरूप यह निश्चय किया गया कि प्रीतिमती का स्वयंवर रचा जाय। स्वयंवर में समीप और दूर सभी देशों के राजा-राजकुमारों को आमन्त्रित किया जाय और प्रीतिमती की शर्त से सभी को पहले से ही अवगत करा दिया जाय।

निश्चय हो जाने पर उसकी क्रियान्विति भी शीघ्र ही हो गई। प्रीतिमती के स्वयंवर की घोषणा कर दी गई।

इस घोषणा को सुनकर अथवा जानकर अनेकों राजकुमारों के मुंह में पानी भर आया। प्रीतिमती के रूप और गुणों की सुवास तो दिग्दिगन्त में फैली हुई थी। अब जब उसके स्वयंवर की बात सुनी गई तो सभी इच्छुक राजे-राजकुमार अपनी-अपनी तैयारी में पिल पड़े। अब जिसका जैसा रूप था सो था, और गुण थे सो थे। उन्हें तो बदला भी कैसे जा सकता था ? किंतु सभी लालायित प्रत्याशी अपना-अपना भाग्य आजमाने के लिए बड़े जोर-शोर से तैयारी करने लगे।

स्वयंवर का दिन नियत था।

उत्सुक, आशावान उम्मीदवार नियत दिवस से पूर्व ही जनानन्दपुर में आ-आकर एकत्रित होने लगे। राजा जितशत्रु ने अतिथियों का स्वागत बहुत प्रेमपूर्वक किया और कोई कोर-कसर उठा नहीं रखी। सभी की सुख-सुविधा का पूरा प्रबन्ध किया गया।

जनानन्द नगरी स्वयं ही एक दुल्हन की भाँति सज गई और जगर-मगर होने लगी। नगर निवासी अपने आगन्तुक रथियों और महारथियों

को देख-देखकर प्रफुल्लित होने लगे। सभी अपना-अपना अनुमान लगाने में डूब गए कि इन सब एक से बढ़कर एक वीरों में से कौन वह भाग्यशाली होगा जो उनकी प्यारी राजकुमारी को ब्याह ले जायगा ?

जनानन्द नगरी में इसी प्रकार धूमधाम मची हुई थी।

उसी समय घूमते-घामते राजकुमार अपराजित तथा विमलबोध भी उसी नगरी में आ पहुँचे।

उन्होंने उस नगरी को उत्सव में डूबे हुए देखा। चहल-पहल, धूम-धाम देखी।

सहज ही जिज्ञासा जागी।

पूछा उन्होंने किसी नागरिक से—"हे भद्र! हम परदेशी हैं। तुम्हारी सुन्दर नगरी में यह विशेष धूमधाम किस कारण से हो रही है ?"

"अरे, आप लोगों को पता नहीं ? कहाँ से आ रहे हैं आप ?"

"बहुत दूर से। और हमें पता नहीं है इस चहल-पहल का कारण। अब आप ही कृपया बताइये।"

"अरे महाशय ! आनन्द ही आनन्द है। हमारी राजकुमारी जी का स्वयम्वर होने वाला है। आपने देखा है हमारी राजकुमारी जी को ?"

"कैसे देखते, हम परदेशी लोग आपकी राजकुमारी को ? क्या वे बहुत सुन्दर हैं ?"

"सुन्दर हैं ? सौन्दर्य तो उनके चरण पखारता है और विद्या उन पर बलिहारी जाती है।"

"अच्छा ! तब तो आपकी राजकुमारी जी सचमुच अद्‌भुत ही होनी चाहिए। धन्यवाद.....।"

"धन्यवाद की क्या बात है इसमें ? आप तो स्वयम्वर में आइयेगा और देखिएगा हमारी राजकुमारी जी को। तब आपको पता चलेगा।"

अपराजित और विमलबोध मुस्कराते हुए उस प्रसन्न, उत्साही नागरिक का कन्धा थपथपाकर आगे बढ़ गये।

जब आ ही पहुँचे हैं तो लगे हाथ इस स्वयम्बर को भी देख ही लिया जाय—अनेक राजा—राजकुमारों से मिलना हो जायगा। परिचय हो जायगा। जानकारी बढ़ेगी। बन्धुभाव बढ़ेगा। हानि कुछ होगी नहीं।

यह विचार करके दोनों मित्रों ने कम से कम स्वयम्वर के दिन तक उस नगरी में ठहरने का निश्चय कर लिया।

कोई एक ठिकाना खोजकर वे दोनों वहाँ टिक गये।

विद्याधर सुरकान्त के द्वारा प्रदत्त मणि के प्रभाव से उन्होंने अपनी दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक सामग्री जुटाली एवं रूप परिवर्तन की विद्या द्वारा उन्होंने अपना रूप भी बदल लिया।

अब वे कोई राजकुमार या अन्य कोई विशिष्ट पुरुष दिखाई न देकर दो अत्यन्त सामान्यजन ही दिखाई देने लगे।

\+ \+ \+ \+

स्वयम्वर के लिए नियत शुभ दिन भी आ गया।

राजा जितशत्रु ने बहुत ही भव्य विवाह-मण्डल बनवाया था। वह इतना विशाल था कि उसमें सहस्रों व्यक्ति समा सकते थे। उस मण्डप की सज्जा भी दर्शनीय थी। राजा-राजकुमारों के लिए अनेक सुखासन वहाँ लगाये गये थे तथा सामान्य दर्शकों के लिए भी सुखपूर्वक बैठने की बड़ी अच्छी व्यवस्था की गई थी।

नियत समय से काफी पूर्व ही सभी राजा और राजकुमार एवं दर्शकगण सभा मण्डप में पहुँच गये। जो प्रत्याशी थे उनके मन में आशा और आकांक्षा के सागर लहरा रहे थे, तथा दर्शकों के मन में कौतूहल था कि देखें, आज किस भाग्यवान का भाग्य चमकता है, राजकुमारी किसका वरण करती है ?

समय होने पर अनेकों परिचारिकाओं से घिरी हुई राजकुमारी प्रीतिमती किसी देवांगना के समान सुशोभित होती हुई सभा मण्डप में आई। एक परिचारिका ने उपस्थित राजाओं एवं राजकुमारों का परिचय एक-एक करके देना आरम्भ किया—

"राजकुमारी जी ! आज आपके स्वयम्वर में यहाँ अनेक रूपवान, गुणवान, कलावान राजा एवं राजकुमार उपस्थित हैं। देखिए, ये कदम्ब देश के राजा भुवनचन्द्र हैं जो कि पूर्व दिशा के स्वामी हैं, भूषण रूप हैं। ये दक्षिण दिशा से पधारे हुए, उस दिशा के अलंकार सदृश्य राजा समरकेतु हैं। ये कुबेरराज उत्तर दिशा को हिमालय के समान थामे हुए हैं। ये राजा सोमप्रभ हैं। इनकी यशोगाथा चारों दिशाओं में गाई जाती है। ये राजा धवल·····शूर·····भीम·····इन्द्रदत्त·····प्रद्योत·····

"इनके अतिरिक्त विद्याधर राजाओं में मुकुटमणि के समान उनके स्वामी मणिचूड़ हैं।

"राजा रत्नचूण की शोभा किसी रत्न के समान है·····।

"दीर्घबाहु, बलशाली राजा मणिप्रभ बड़े प्रतापी हैं·····।"

"इधर ये खेचर राजा भुमन, सूर, सोम·····।"

इस प्रकार वह परिचारिका राजकुमारी प्रीतिमती को उपस्थित नरेशों का परिचय प्रदान करती गई एवं उनके गुणों का वर्णन करती गई, उनकी विशेषताएँ बताती गई। राजकुमारी प्रीतिमती तब तक चुपचाप सुनती रही और कदम-कदम आगे बढ़ती रही।

सभी उपस्थित राजा-राजकुमारों का परिचय पूर्ण हो जाने के बाद राजकुमारी ने पूर्वपक्ष ग्रहण कर वाद-विवाद का आरम्भ किया। उसने कुछ प्रश्न प्रस्तुत किए और उनके उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी।

किन्तु उत्तर नदारद।

सूई भी गिरे तो शब्द हो जाय ऐसी शान्ति, इतना सघन मौन उस समय सभामण्डप में छा गया था।

किन्तु उस मौन को भंग करने वाला उत्तर तो कहीं से आया ही नहीं।

राजकुमारी के प्रश्न इतने प्रखर थे कि किसी राजा के पास उनका कोई समुचित उत्तर था ही नहीं।

आशा आकांक्षा लिए आए सभी राजा मौन, निराश हो गये।

लज्जित भी।

पराजय एवं पराजय की लज्जा ने मानो उन सभी के मुख स्याह कर दिये।

यह स्थिति राजा जितशत्रु के लिए चिन्ता का कारण बन गई। वे सोच रहे थे कि यह क्या हो गया? अब क्या होगा? इतने-इतने ज्ञानी, पराक्रमी, कलावान, विद्वान राजागण यहाँ उपस्थित हैं और कोई भी मेरी पुत्री के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पा रहा है, उसके द्वारा प्रस्तुत विषय के पूर्वपक्ष के समक्ष अपना उत्तर पक्ष नहीं रख पा रहा है। इस स्थिति में क्या मेरी पुत्री अविवाहित ही रह जायेगी····?

यदि ऐसा हुआ तो यह कितनी विषम स्थिति होगी ? मेरा कितना अपमान होगा ? वस्तुतः अपमान मेरा या मेरी पुत्री का तो नहीं, लज्जा की बात तो उन राजाओं के लिए हो है जो उत्तर नहीं दे पा रहे, किन्तु फिर भी भुगतना तो मुझे ही पड़ेगा न ?

सचमुच राजा जितशत्रु बहुत चिन्तित हो गए।

यह देखकर उनके मंत्री ने उनसे कहा—

"महाराज ! स्थिति विषम हो गई है। कुछ न कुछ उपाय किया जाना चाहिए। आप चिन्तित न हों। यदि इन राजाओं में से कोई भी राजा राजकुमारी जी के योग्य सिद्ध नहीं हुआ है तो इसमें एकदम निराश हो जाने की बात नहीं है....।"

"तो आशा की किरण कहाँ दिखाई देती है तुम्हें ?" राजा ने कुछ खीझते हुए कहा।

"प्रभु ! राजकुल में जन्म होना ही किसी मनुष्य के लिए गौरव की बात नहीं है। गौरव की बात तो पुरुष के लिए यह है कि वह गुणवान हो। फिर वह चाहे किसी भी कुल में उत्पन्न हुआ हो, अर्थात् वह राजपुरुष न होकर कोई सामान्य जन भी हो, तब भी कोई अन्तर नहीं पड़ता यदि वह गुणवान हो तो।"

"आपके कथन का तात्पर्य क्या है ?"

"यही महाराज, कि हम यह घोषित करें कि यहाँ उपस्थित कोई भी व्यक्ति यदि राजकुमारी के प्रश्नों का उत्तर दे सकने में समर्थ हो तो वह आगे आए। यदि कोई ऐसा महापुरुष निकल आया, भले ही वह किसी सामान्य कुल का ही क्यों न हो, तो हम राजकुमारी का विवाह उसके साथ कर देंगे। इस प्रकार हम इस संकट से उबर सकते हैं।"

महाराज जितशत्रु ने विचार किया और अन्य कोई मार्ग न देखकर कहा—

"ठीक है, मंत्रिवर ! ऐसा ही कीजिए। घोषणा करा दीजिये।"

उपर्युक्त अभिप्राय की घोषणा तुरन्त करा दी गई। एक नई प्रकार की हलचल वहाँ मच गई। जन साधारण में सभी लोग इधर-उधर एक-दूसरे को देखने लगे और सोचने लगे—देखें, अब क्या होता है ?

लज्जित राजा और राजकुमार भी अपनी दृष्टि उठाकर जन साधारण की ओर देखने लगे कि क्या कोई माई का लाल हम लोगों को पराजित करके राजकुमारी का वरण कर सकता है ?

अपराजित ने जब यह घोषणा सुनी तो उसने यह विचार किया कि यद्यपि वाद-विवाद में किसी स्त्री को पराजित करना कोई बहुत बड़ा पुरुषार्थ नहीं है तथा प्रतिष्ठा का विषय नहीं है, फिर भी यह प्रश्न अब महाराज जितशत्रु की प्रतिष्ठा का तो है ही। साथ ही राजकुमारी प्रीतिमती के भविष्य का भी प्रश्न है। विजय को कामना से नहीं तो कम से कम सहायता की भावना से तो आगे आना ही चाहिए।

यह विचार करके अपराजित शान्त मुद्रा में अपने स्थान से खड़े होकर राजकुमारी के सामने आ गए।

सादी वेशभूषा में, बिलकुल कोई सामान्य से नागरिक ही दिखाई पड़ रहे थे। कुछ लोग तो दबे-छिपे उनकी हँसी भी उड़ाने लगे कि यह आदमी इतनी विदुषी राजकुमारी से क्या वाद-विवाद करेगा ? लेकिन भाई, आजमा लेने दो, इसे भी अपनी तकदीर आजमा लेने दो। खुला निमन्त्रण है। इसका लाभ तो उठाया ही जा सकता है। इसी बहाने से इस आदमी को राजकुमारी जी बात करने का परम सौभाग्य तो प्राप्त हो ही जायगा। यही विचार इसने किया भी होगा और अभी अपनी मुंह की खाकर लौट आएगा.....

इसी प्रकार की बातचीत जनसमुदाय में होती रही।

किन्तु जिन व्यक्तियों के पास दृष्टि थी उन्होंने उस सामान्य-से दिखाई देने वाले पुरुष के मुखमंडल पर जब अपनी निगाहें जमाईं तो उनसे यह छिपा नहीं रह सका कि हो न हो, यह कोई विशिष्ट पुरुष ही प्रतीत होता है। अतः वे बड़ी ही उत्सुकता से परिणाम की प्रतीक्षा करने लगे।

अपराजित जब प्रीतिमती के सन्मुख आए तब उन्हें देखकर पूर्व जन्म के संस्कारवश वह उन्हें देखते ही विभोर हो गई। पूरे छद्म वेश तथा छद्म आकृति के बावजूद मानो उसने अपने जन्म-जन्मान्तर के साथी को क्षणमात्र में ही पहचान लिया.....

किन्तु प्रगट में वह मौन, शान्त रही।

उसने अपना पूर्वपक्ष नए सिरे से प्रस्तुत किया। जिन प्रश्नों का

कोई ओर-छोर भी इतने सारे राजे और राजकुमार नहीं जान पाए थे, उन प्रश्नों के सटीक उत्तर अपराजित ने इतने सहज भाव से दिए तथा राजकुमारी की युक्तियों का खण्डन इतने औचित्यपूर्वक ढंग से किया कि राजकुमारी तो अपराजित के पांडित्य से विस्मित रह ही गई, सारी सभा भी अवाक् रह गई.....

यह अवाक् स्थिति कुछ समय तक ही रही। उसके बाद तुरन्त ही सभा में 'धन्य धन्य' का उद्घोष उठ खड़ा हुआ। जन साधारण को अपराजित की विजय होती स्पष्ट दिखाई दी और उसकी विजय में उन्हें अपनी ही विजय का आभास हुआ।

राजकुमारी प्रीतिमती ने प्रसन्नतापूर्वक अपनी पराजय स्वीकार कर ली और वरमाला अपराजित के गले में डाल दी।

राजा जितशत्रु प्रसन्न हो गए।

सभी नागरिक हर्ष के महासागर में डूबकर जय-जयकार करने लगे।

किन्तु वहाँ उपस्थित राजा और राजकुमार घायल सर्पों की तरह ऐंठ गए। वे अपने आहत अभिमान के विष से स्याह भी पड़ गए। उन्हें इस बात से अपना स्पष्ट अपमान मालूम पड़ा कि राजकुमारी प्रीतिमती ने उन सभी प्रतापी नरपुंगलों की अवहेलना करके एक साधारण आदमी को वरमाला पहिना दी थी।

राजा ही तो थे। अभिमान उनकी नाक पर चढ़ा हुआ था। वे अकड़ गए। कहने लगे—

'हम नरेशों के रहते यह भिखमंगा राजकुमारी को ब्याह ले जायगा ? कदापि नहीं। क्या पिद्दी और क्या पिद्दी का शोरवा ? इसे तो हम अभी सबक सिखाते हैं।"

यह कहते हुए वे अपने शस्त्र उठाने लगे।

किन्तु इतने अभिमानी राजाओं में कोई एक विवेकवान नरेश भी था। उसने उन्हें समझाना चाहा—

"बन्धुओं ! यह अनुचित है। आप लोग ऐसा व्यवहार न करें। यह व्यक्ति जो भी हो, इसने अपनी योग्यता से, नियमानुसार स्वयम्वर विजय किया है। आप लोग शान्त रहिए।"

"शान्त रहो तुम, यदि तुम्हें तलवार पकड़ना न आता हो तो। हम यह अपमान कभी सहन नहीं कर सकते....."

यह कहते हुए वे राजा लोग अकेले, निहत्थे अपराजित पर एक साथ टूट पड़े।

एकाएक अनेकों शत्रुओं द्वारा आक्रमण कर दिए जाने पर बड़े से बड़ा अकेला वीर पुरुष जी घबराहट में पड़ सकता है, धैर्य खो सकता है, किंकर्तव्यविमूढ़ होकर पराजित हो सकता है—

किन्तु हमारा चरितनायक अपराजित तो दिव्य पुरुष था। वह अपने पाँचवें भव में चरम-परम पुरुषार्थी बाईसवाँ तीर्थंकर होने वाला था। वह इन अभिमानी कायरों के समूह से क्या घबराता ?

सैकड़ों सियारों से घिरा हुआ सिंह जैसे दहाड़ मारकर बिजली की-सी गति से उन पर टूट पड़े, उसी प्रकार अपराजित ने उछलकर किसी एक राजा की तलवार छीनली और सामने, आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ इस तीव्र गति से घूम-घूमकर वार करने और वार बचाने का आरम्भ किए कि देखने वाले देखते ही रह गये।

उन राजाओं की देखादेखी, अपनी स्वामिभक्ति प्रदर्शित करते हुए उनके सहस्रों सैनिक भी अपराजित पर पिल पड़े। किन्तु अपराजित मानो पवन वेग से उड़ते हुए ही राजा सोमप्रभ के उत्तुंग हाथी को अपने अधिकार में कर लिया और उस पर सवार होकर—हौदे में रखे धनुष-बाण से ऐसी मारकाट मचाई कि उन राजाओं को भागते भूमि भारी पड़ गई।

अद्भुत था अपराजित का वह रण कौशल !

अदम्य थी उसकी वीरता !

हिमालय-सा सडिग था उसका आत्म विश्वास !

कुछ समय तक तो उन सभी राजाओं ने अपना पूरा जोर लगाया, किन्तु फिर उन्हें भली प्रकार मालूम पड़ गया कि जिसे उन्होंने कोई सामान्य पुरुष समझा था वह तो कोई अलौकिक महापुरुष ही है, जिसे युद्ध में पराजित करना किसी के वश की बात नहीं।

परिणामतः उन्होंने अपने-अपने शस्त्र रख दिए और लज्जित होकर एक साथ ही मानो बोल पड़े—

"क्षमा ! क्षमा ! हे महाभाग ! हे महाबाहु ! हमें क्षमा प्रदान कीजिए।"

तब राजकुमार अपराजित भी युद्ध रोककर हाथी से नीचे उतर गए।

राज जितशत्रु ने आगे बढ़कर अपराजित को गले लगा लिया और कहा—

"आपके समान विद्वान् और वीर पुरुष हमने आज तक अन्य कोई नहीं देखा। क्या आप कृपा कर अपना परिचय प्रदान करेंगे ?

"महाराज ! क्या अभी परिचय पूर्ण नहीं हुआ ? क्या इससे भी अधिक परिचय की आवश्यकता शेष रह गई है ?"—अपराजित ने मुस्कराते हुए कहा।

अपराजित के इस कथन में उपस्थित राजाओं के प्रति छिपा हुआ हल्का-सा व्यंग्य था जिन्होंने उससे युद्ध करने का दुस्साहस किया था। इस व्यंग्य को लक्ष्य करते हुए राजा जितशत्रु ने कहा—

"पुत्र ! तुम्हारा वास्तविक परिचय तो मुझे ही क्या यहाँ उपस्थित सम्पूर्ण जन समुदाय को प्राप्त हो चुका है। किन्तु फिर भी लौकिक, व्यावहारिक दृष्टि से मेरी प्रार्थना है कि तुम अपना सांसारिक परिचय भी हमें प्रदान करो।"

तब विमलबोध आगे आया और उसने बताया—

"महाराज ! आपके सामने सिंहपुर के महाराज हरिनन्दी के युवराज अपराजित स्वयं खड़े हैं....।"

"अपराजित ! अरे, धन्य है, धन्य है ! महाराज जितशत्रु के मुख से निकल पड़ा—"हमारे अहोभाग्य ! आओ पुत्र, तुम्हारा स्वागत है !"

राजा सोमप्रभ भी यह परिचय सुनकर आगे बढ़ आये और अपराजित को अपने गले से लगाते हुए बोले—

"अपराजित कुमार ! तुम तो मेरे परम स्नेही मित्र हरिनन्दी के सुपुत्र निकले। इस नाते तुमे मेरे भी पुत्र समान ही हो। हे भगवान ! कैसा विलक्षण संयोग है ! हम लोग कैसी भूल कर बैठे कि तुम्हें कोई साधारण व्यक्ति समझकर तुमसे युद्ध करने लगे। हमें क्षमा करना, पुत्र !"

"नहीं-नहीं, महाराज ! आप ऐसा कहकर मुझे, अपने पुत्र को लज्जित न करें। आप लोग तो मेरे पिता तुल्य हैं। मनुष्य के अनजाने कितनी ही घटनाएँ घटित हो जाती हैं। उसमें उस मनुष्य का कोई दोष नहीं होता।" अपराजित ने कहा।

एक समय अपराजित से युद्ध करने वालों की कमी नहीं रही थी तो अब क्षमायाचना का ढेर लग गया..... ।

जिस वातावरण में चिन्ता, क्रोध और हिंसाभाव भर गया था, वहाँ अब शांति, आनन्द और प्रीतिभाव व्याप्त हो गया।

और राजकुमारी प्रीतिमती का विवाह राजकुमार अपराजित के साथ इतनी धूमधाम और हर्षोल्लास के बीच सम्पन्न हुआ कि देवता भी देखते रह गये।

उत्सव सम्पूर्ण हुआ। अपने आँगन में पधारे हुए समस्त राजाओं को राजा जितशत्रु ने ससम्मान और स्नेहपूर्वक विदा किया।

जितशत्रु के मंत्री के भी एक कन्या विवाह योग्य थी। मंत्री ने उसका विवाह विमलबोध के साथ कर दिया। अपराजित और विमलबोध ने कुछ दिन राजा जितशत्रु का आतिथ्य स्वीकार किया।

एक दिन राजा हरिनन्दी का एक अनुचर अपराजित और विमलबोध का पता लगाते-लगाते जनानन्दपुर में आ पहुँचा। बहुत समय से राजकुमार के बिछोह के कारण उसके माता-पिता बहुत दुःखी थे। पुत्र का ठीक-ठीक पता न लग पाने के कारण वे अब तक उसके पास कोई सन्देश भेज नहीं पा रहे थे। किन्तु अब किसी प्रकार वह अनुचर जनानंदपुर आ पहुँचा और राजकुमार अपराजित से मिलकर उसने कहा—

"राजकुमार की जय हो ! आप कुशलपूर्वक तो हैं न ?"

"हाँ, महाराज तथा माताजी कैसे हैं अनुचर ?"—अपराजित ने पूछा।

"राजकुमार ! आपके पिताश्री तथा माताजी आपके वियोग में अत्यन्त चिंतित एवं दुःखी हैं। बहुत समय हो गया, आपका कोई ठीक पता न मिलने के कारण हम लोग आप तक उनका संदेश पहुँचा नहीं पा रहे थे जहाँ भी हम लोग पहुँचते, पता चलता कि आप वहाँ से कहीं आगे बढ़ गए हैं। आज भाग्य से आपके दर्शन इस नगरी में हो गए।"

"महाराज और माताजी स्वस्थ तो हैं न ?"

"स्वस्थता तो है राजकुमार ! किंतु एक तो अब वृद्धावस्था आ पहुँची है और दूसरे आपका वियोग। इस कारण उनका तन-मन आजकल दोनों ही बहुत शिथिल रहने लगा है। महाराज ने कहलवाया है कि अब आप अविलम्ब सीधे सिंहपुर पहुँच जाइये।"

"ठीक है। मुझे भी बहुत चिन्ता होने लगी है। हम आज ही यहाँ से प्रस्थान करते हैं।"—अनुचर से अपराजित ने कहा और फिर विमलबोध को पुकार कर कहा—"विमल ! घर चलने की तैयारी कर लो, मित्र! अपने माता-पिता बड़ी उत्कंठा से अपनी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हमें आज ही यहाँ से चल पड़ना है।"

"ठीक है, राजकुमार ! वास्तव में हम लोगों ने बहुत विलम्ब कर दिया है। अब चलना ही चाहिए। हम तैयार ही हैं। बस, महाराज जितशत्रु से आज्ञा लेने की ही देर है।"

"वह भी मिल जायगी। चलो, महाराज के पास ही चलते हैं।"

अपराजित और विमलबोध ने महाराज जितशत्रु से जब सिंहपुर से अनुचर के आने तथा अपने माता-पिता की चिंता की बात बताकर उनसे विदा प्रदान किए जाने की आज्ञा माँगी तब सहर्ष उन्होंने कहा—

"यद्यपि आप लोगों से बिछुड़ने का मन नहीं होता, फिर भी यह उचित ही है कि अब आप लोग शीघ्र ही सिंहपुर पहुँच जायँ। महाराज हरिनन्दी चिंतित हैं। प्रत्येक सन्तान का कर्तव्य होता है कि वह अपने माता पिता की सेवा करे, विशेषरूप से वृद्धावस्था में। अतः आप लोग यदि अब प्रस्थान करना ही चाहते हैं तो मैं आपको अब रोकूँगा नहीं। आप अपनी तैयारी कीजिए, मैं भी आपकी यात्रा के लिए आवश्यक तैयारियाँ कराए देता हूँ।"

प्रस्थान की तैयारी हो गई। विदा बेला आ पहुँची।

उस समय वहाँ पर वे सभी राजा लोग भी अपनी-अपनी पुत्रियों के साथ आ पहुंचे जिनके साथ अपराजितकुमार ने विवाह किया था।

विद्याधर सुरकान्त भी प्रेमवश घूमता-घामता वहाँ आ पहुँचा।

अपनी समस्त पत्नियों तथा अनेक भूचर, खेचर मित्र राजाओं के

साथ राजकुमार अपराजित ने जनानन्दपुर नगरी तथा राजा जितशत्रु से प्रेमपूर्वक विदा ली।

\+ + +

मजिल दर मंजिल चलता हुआ वह काफिला तेजी से सिंहपुर की ओर बढ़ा। तीव्रगामी अश्वारोहियों के साथ सूचना आगे भिजवा दी गई थी, अतः सिंहपुर नगरी अपने प्रिय राजकुमार के स्वागत के लिए बड़े उत्साह के साथ तैयारियों में जुट पड़ी।

शीघ्र ही राजकुमार सदलबल सिंहपुर आ भी पहुंचे।

बहुत काल से बिछुड़े हुए अपने पुत्र से मिलकर महाराज हरिनन्दी तथा रानी प्रियदर्शना का हृदय शीतल हुआ।

उसी प्रकार विमलबोध से मिलकर उसके माता पिता भी परम प्रसन्न हुए।

सिंहपुर के नागरिक भी अपने प्यारे राजकुमार के दर्शन करके, उन्हें कुशलपूर्वक वापस पाकर आनंद में डूब गए।

राजकुमार अपराजित की वधुओं ने अपने सास-ससुर, महाराज हरिनन्दी एवं महारानी प्रियदर्शना की चरण वन्दना की। उनके आशीर्वाद प्राप्त किए।

विमलबोध ने साथ आए हुए अनेक भूचर एवं खेचर राजाओं का परिचय महाराज हरिनंदी को दिया। महाराज ने उन सभी का प्रेमपूर्वक स्वागत किया और कुछ दिन अपना आतिथ्य स्वीकार करने का आग्रह किया। उस आग्रह को आज्ञा ही मानकर सभी नरेशों ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। उनके आवासादि की समुचित व्यवस्था पहले से ही कर दी गई थी। वे सब वहाँ ठहर गए।

इस प्रकार सिंहपुर के सुख के दिन लौट आए और देखते-देखते व्यतीत होने लगे।

कुछ समय बाद सिंहपुर के सभी अतिथि अपने-अपने निवास-स्थानों को लौट गए। अपने साथ वे सिंहपुर की, महाराज हरिनन्दी की तथा राज कुमार अपराजित की बहुत-सी मीठी यादें लेते गये।

× × ×

राजकुमार अपराजित सर्वगुणसम्पन्न थे और महाराज हरिनन्दी

वृद्ध हो चले थे। अतः उन्होंने अपराजित का राज्याभिषेक कर उन्हें राज्य-भार सौंप दिया और दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण हेतु विचरण करने लगे। उन्होंने सामर्थ्य-भर तपश्चरण किया और अन्त में मुक्ति प्राप्त की।

मनोगति और चपलगति माहेन्द्र देवलोक से च्युत होकर इस भव में सूर और सोम नाम से अपराजित के भाई होकर उत्पन्न हुए थे। महाराज अपराजित ने उन्हें माण्डलिक राजाओं का पद प्रदान किया। वे सुखपूर्वक अपने-अपने मण्डलों का शासन संचालन करने लगे।

स्वयं महाराज अपराजित अपना पर्याप्त समय प्रजा की सेवा में अर्पित करने लगे। इतने विस्तृत राज्य में किसी भी व्यक्ति को कोई भी कष्ट हो तो वह सीधा महाराज के पास पहुँचकर अपनी समस्या और अपना कष्ट उनके समक्ष प्रस्तुत कर सकता था। उसकी समस्या का समाधान तुरन्त किया जाता था। उसका दुःख अविलम्ब दूर होता था।

प्रजापालन के अपने पुनीत कर्तव्य में महाराज अपराजित किसी भी प्रकार का प्रमाद नहीं करते थे।

प्रजापालन, मुनिजन-सेवा, स्वाध्याय तथा संतदर्शन आदि शुभ कार्यों में उनका समय सानन्द व्यतीत होता चला गया।

इस प्रकार बहुत काल व्यतीत हो गया।

एक दिन राजा अपराजित अपने उद्यान की ओर भ्रमण हेतु निकले हुए थे। जब वे वहाँ पहुँचे तो उन्होंने देखा कि एक सुन्दर, सुदर्शन युवक उस उद्यान में अनेक दास-दासियों से घिरा हुआ याचकों को दान दे रहा था। उसके वस्त्र अत्यन्त बहुमूल्य थे। अलंकरण बहुत सुन्दर और कीमती थे। ठाठबाट निराले ही दीख रहे थे।

और याचकों को वह खुले हाथ से प्रभूत मात्रा में प्रचुर दान दे रहा था। याचक यदि बढ़ते जाते थे तो उस युवक के सेवक नई-नई थैलियाँ खोलते जाते थे अथवा गाड़ियों में भर-भरकर विपुल दान-सामग्री लिए चले आते थे।

इतने ऐश्वर्यवान उस व्यक्ति को देखकर महाराज अपराजित को इस बात की तो प्रसन्नता हुई कि उसके राज्य में ऐसे समृद्ध और ऐसे दानी व्यक्ति निवास करते हैं, किन्तु यह जानने की जिज्ञासा भी हुई कि आखिर यह है कौन ? अतः उन्होंने अपने एक अनुचर से पूछा—

"क्यों जयन्त, यह कौन व्यक्ति है ? मैंने इसे पहले कभी देखा तो नहीं है।"

"महाराज ! हमारे नगर में समुद्रपाल नामक सार्थवाह हैं न ?"

"हाँ। उन्हें जानता हूँ।"

"ये उन्हीं के पुत्र अनंगदेव हैं, महाराज !"

"अच्छा, ठीक है। चलो।"—कहकर राजा अपराजित आगे बढ़ गए।

उस दिन का भ्रमण समाप्त हुआ।

संयोगवश दूसरे ही दिन जब राजा अपराजित की सवारी नगर में से जा रही थी तब उन्होंने एक बड़ा ही करुण दृश्य देखा—किसी व्यक्ति की शवयात्रा जा रही थी। हजारों व्यक्ति उदास, रोते-बिलखते उस शवयात्रा में सम्मिलित थे। बालक, बूढ़े, स्त्रियाँ सभी रो रहे थे। हृदय को दहला देने वाला दृश्य उपस्थित था।

पूछने पर महाराज अपराजित को जयन्त नामक अंगरक्षक ने ही जानकारी दी—

"प्रभु ! घोर दुःख का समाचार है। कल ही आपने जिस युवक अनंगदेव को हँसता-खेलता, याचकों को जी-भरकर दान देते हुए देखा था, वही अनंगदेव आज काल का ग्रास बन गया है महाराज····!"

"अरे, क्या कहते हो तुम ? कल ही तो····अभी कल ही तो उसे देखा था····स्वस्थ, सुखी, यौवन से खिला-खिला····।"

"हाँ, महाराज ! विधि के विधान विचित्र हैं। कल क्या था, आज क्या हो गया ?"

महाराज अपराजित यह हृदय विदारक दृश्य और क्रूर काल की ऐसी कठोरता देखकर उसी समय अपने राजमहालय में लौट आए।

उनका मन फिर किसी काम में नहीं लगा।

उनका चिन्तन इस संसार की अनित्यता के भावों से बोझिल बना रहा।

जीवन की असारता उनके अन्तर् में पैठी और पैठती ही चली गई।

विरक्ति का भाव उनके हृदय में जागा और जागृत ही रहा।

मन ही मन अशान्त भाव से, भीतर-ही-भीतर विरक्त रहते हुए महाराज अपराजित अपना कर्तव्य-निर्वाह करते हुए दिन व्यतीत कर रहे थे कि वे केवली भगवन्त जिनके पुण्यदर्शन उसे कुण्डलपुर में हुए थे, सिंहपुर पधारे। महाराज अपराजित को मन की मुराद मिल गई। केवली भगवंत से उन्होंने धर्मोपदेश सुना और फिर अपनी महारानी प्रीतिमती से उत्पन्न अपने पुत्र पद्म को राज्य-भार सौंपकर उन्होंने केवली भगवन्त से मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली।

प्रीतिमती भी पीछे रहने वाली नहीं थी। उसने भी अपने पतिदेव के साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली।

बाल-सखा विमलबोध भी अकेला क्योंकर रहता? वह भी अपने मित्र के साथ ही दीक्षित हो गया।

इसी प्रकार अपराजित के छोटे भाइयों—सूर और सोम ने भी मानव-जीवन की क्षणभंगुरता को समझा और वे भी अपने आत्मकल्याण हेतु संसार का मोह त्यागकर मुनि बन गए।

दीर्घकाल तक ज्ञान की आराधना और तपस्या का क्रम चला और अन्त में इन सभी लोगों ने आरण देवलोक में देवत्व प्राप्त किया। □

[४]

पुण्य भूमि भरतक्षेत्र के कुरु नामक एक प्रदेश में हस्तिनापुर नामक एक बहुत ही सुन्दर, विशाल और समृद्ध नगर था। वहाँ राजा श्रीषेण राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम श्रीप्रती था। राजा और रानी दोनों ही बड़े सात्विक आचार व्यवहार वाले थे तथा धर्म कार्यों में उनकी रुचि अनुकरणीय थी।

यथाराजा तथाप्रजा की कहावत उस नगर में चरितार्थ होती थी। जिस प्रकार राजा श्रीषेण शुद्ध आचार-विचार रखते थे, उसी प्रकार उनकी प्रजा भी उन्हीं के आदर्शों का अनुकरण करने वाली थी। अतः उनके राज्य में सुख-शान्ति थी। सभी सन्तुष्ट थे। सभी सन्तोषपूर्वक जीवन यापन किया करते थे।

हाँ, प्रत्येक नारी को माता बनने की जो एक स्वाभाविक और प्राकृतिक अभिलाषा होती है, वह तो रानी श्रीमती की भी थी। मातृत्व की धन्यता कौन नारी प्राप्त नहीं करना चाहती ? अभी रानी श्रीमती भी नारी जीवन की इस सार्थकता से वंचित थी।

किन्तु कहते हैं धीरज का फल मीठा होता है।

एक रात्रि को, अन्तिम प्रहर में, रानी श्रीमती ने एक स्वप्न देखा—पूर्णचन्द्र उनके मुख में प्रवेश कर रहा था। यह स्वप्न किसी शुभ की सूचना ही दे रहा होगा इतना तो रानी ने अनुमान लगाया किन्तु इसका वास्तविक अभिप्राय जानने के लिए वह उत्कंठित भी हो उठी। राजा के जागने की प्रतीक्षा में उसने शेष रात्रि व्यतीत कर दी।

प्रातःकाल जब राजा श्रीषेण जागृत हुए तब रानी ने वह स्वप्न उन्हें सुनाया और जानना चाहा कि इसका फल क्या है ? राजा ने विचार किया और कहा—

"कुछ न कुछ शुभ बात ही है, महारानी ! किन्तु ठीक-ठीक बात तो कोई स्वप्नपाठक ही बता सकेगा।"

"तो स्वप्नपाठकों को आज ही राजसभा में आमन्त्रित कीजिए।" —महारानी ने आग्रह किया।

महारानी का आग्रह भी था, राजा को स्वयं भी जिज्ञासा थी, अतः उसी दिन स्वप्नपाठक आए और महारानी के उस स्वप्न पर विचार करके उन्होंने बताया—

"महाराज ! आप तथा महारानी जी को हमारी हार्दिक बधाई स्वीकार हो। इस स्वप्न के सुफल के विषय में हम सब लोग एकमत से यह कह सकते हैं कि महारानी जी को इस स्वप्न के परिणामस्वरूप एक परम यशस्वी, परम प्रतापी पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी। जिस प्रकार पूर्ण-चन्द्र समस्त अन्धकार का विनाश करके शीतल चन्द्रिका का प्रसार करता है, उसी प्रकार आपका यह पुत्र समस्त शत्रुओं का नाश करने वाला होगा।"

स्वप्न का यह उत्तम फल जानकर न केवल महाराज श्रीषेण एवं महारानी श्रीमती ही अत्यन्त हर्षित हुए, बल्कि सूचना मिलने पर सारी नगरी में आनन्द की लहर व्याप्त हो गई।

महारानी की प्रतीक्षा सफल हुई। कुछ ही समय बाद अपराजित का जीव देवलोक से च्युत होकर महारानी श्रीमती के गर्भ में आया और गर्भकाल पूर्ण होने पर रानी ने एक अत्यन्त सुन्दर पुत्र को जन्म दिया।

सारे हस्तिनापुर राज्य में राजकुमार का जन्मोत्सव बड़ी धूमधाम एवं हर्षोल्लासपूर्वक मनाया गया। अपने पुत्र का नाम महाराज श्रीषेण ने शंख रखा।

बालक जब शिक्षा प्राप्त करने योग्य वय का हुआ तो योग्य आचार्यों की देखरेख में उसका अध्ययन एवं शिक्षा-दीक्षा आरम्भ हुई। बालक मेधावी था। उसमें ज्ञान प्राप्त करने की लगन थी। अतः देखते ही देखते वह अवस्था में बढ़ने के साथ-साथ सभी प्रकार की कलाओं को आत्मसात करते-करते एक दिन ज्ञानवान, वीर नवयुवक बन गया।

उधर विमलबोध का जीव भी देवलोक से च्युत होकर महाराज श्रीषेण के मंत्री के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम उन्होंने मति-

प्रभ रखा था। राजकुमार तथा मंत्री-पुत्र की अवस्था में समानता थी तथा पूर्वजन्म का मैत्रीभाव भी उनमें था। अतः बाल्यकाल से ही उन दोनों में मैत्री गाढ़ से प्रगाढ़ होती चली जा रही थी।

इस प्रकार राजकुमार शंख एवं मंत्रीपुत्र मतिप्रभ भी आनन्दपूर्वक समय व्यतीत कर रहे थे। राज्य में सुखशान्ति थी।

उस शान्ति में एक दिन भंग उत्पन्न हो ही गया—

राज्य की सीमा पर, वन-प्रांतर में, शृंग नामक एक बहुत ऊँचा और सघन पर्वत था। उस पर्वत की उपत्यकाएँ बड़ी दुर्गम और जटिल थीं। शिशिरा नाम की एक पर्वतीय नदी भी वहाँ बहती थी। इस नदी ने उस प्रदेश में आवागमन को और भी कठिन बना दिया था।

उस दुर्गम प्रदेश में समरकेतु नामक एक पल्लीपति निवास करता था। वह बड़ी ही दुष्ट वृत्ति का था। आसपास के जंगलों में निवास करने वाले लोगों को वह बहुत सताया करता था। उन्हें लूट लेता और नाना प्रकार के कष्ट देता।

राज्य के अनेक सार्थवाहों को भी अपने व्यापार कार्य से उस प्रदेश में से होकर प्रायः जाना पड़ता था। वह पल्लीपति, समरकेतु, उन्हें भी लूट लेता।

इस प्रकार के शान्त और सुखी जीवन में एक व्यवधान उत्पन्न हो गया था।

दुःखी होकर प्रजा के कुछ प्रतिनिधि एक दिन अन्य कोई मार्ग दिखाई न देने पर महाराज श्रीषेण के समक्ष उपस्थित हुए और उनसे अपनी पीड़ा बताने लगे—

"प्रातःस्मरणीय प्रभु ! हमारी रक्षा कीजिए.....।"

महाराज श्रीषेण को आश्चर्य हुआ कि आज अचानक ही उनकी प्रजा इस प्रकार कातर और दुःखी होकर उनके पास कैसे आई ? कौन सा संकट उनकी प्रजा पर आ पड़ा ? कल तक तो सारे राज्य में सुख-शांति के ही समाचार थे। उन्होंने पूछा—

"क्या बात है भद्रजन ! आप लोगों को क्या कष्ट है ? क्या हुआ है ?"

"महाराज ! बहुत समय से हम लोग चुप थे और सहन करते जा रहे थे। यह सोचते थे कि छोटी-मोटी बात के लिए अपने दयालु महाराज की शान्ति में विघ्न क्यों डालें ? किन्तु अब तो हमारी सहनशक्ति की सीमा आ गई है.....।"

"किन्तु हुआ क्या है ? जो बात हो, वह निस्संकोच तथा शीघ्र बताइये।"

"महाराज ! राज्य के सीमा प्रान्तर में, शृंग नामक पर्वत की उपत्यकाओं में समरकेतु नामक एक पल्लीपति रहता है। उसकी लोभवृत्ति तथा हिंसक भावना अब बहुत अधिक बढ़ गई है। निरपराध और असहाय लोगों को वह बहुत सताने लगा है। जब मन में आता है तब किसी को भी लूट लेता है, किसी की भी हत्या कर डालता है। उस दिशा में, उन मार्गों से आवागमन असम्भव होता जा रहा है। आप हमारी रक्षा कीजिए महाराज !"

अपनी प्रिय प्रजा से यह समाचार जानकर तथा उनके कष्ट को समझकर महाराज श्रीषेण अत्यन्त दुःखी हो गए और सात्विक क्रोध से उफन पड़े। उन्होंने सेनापति को तत्काल बुलाया और कहा—

"सेना तैयार की जाय। हम आज ही उस दुष्ट समरकेतु को शिक्षा देने के लिए प्रस्थान करेंगे।"

राजाज्ञा का पालन तुरन्त हुआ। सेना सुसज्जित होने लगी।

इस हलचल को जब राजकुमार शंख ने देखा और कारण पूछने पर जब उसे ज्ञात हुआ कि महाराज युद्ध के लिए प्रस्थान करने वाले हैं तो वह दौड़ा-दौड़ा अपने पिता के पास पहुँचा और बोला—

"पिताजी ! महाराज ! क्या आप युद्ध के लिए जा रहे हैं ?"

"हाँ पुत्र ! आवश्यक हो गया है। कोई पल्लीपति समरकेतु है जिसने अपनी प्रजा को बहुत दुःखी कर रखा है। उसे समुचित शिक्षा देनी ही पड़ेगी।"

"किन्तु पिताजी, इतनी छोटी-सी बात के लिए आप कष्ट करेंगे ? फिर हम लोग किस काम के लिये हैं ? आप मुझे आज्ञा दीजिए, मैं जाता हूँ।"

महाराज श्रीषेण ने विचार किया और कहा—

"अच्छा ठीक है, तुम ही चले जाओ। तुम्हें युद्ध का कुछ अनुभव भी हो जाना चाहिए। किन्तु पुत्र, सावधान रहना। वह स्थल दुर्गम है। तुम वहाँ के मार्गों से अपरिचित हो। समरकेतु धूर्त और नृशंस है।"

"आप चिन्ता न करें पिताजी ! कोई शृगाल कितना ही धूर्त क्यों न हो, सिंह की बराबरी तो नहीं कर सकता। अब आज्ञा प्रदान कीजिए।"

"जाओ, पुत्र ! पहली बार युद्ध के लिए जा रहे हो। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ रहेगा।"

कुछ ही घड़ियों के बाद राजकुमार शंख अपनी सेना को लेकर राजधानी से चल पड़ा। वह उमंग में था और सैनिक भी उत्साह से भरे हुए थे।

राजकुमार बड़ी तेजी से शृंग पर्वत की ओर बढ़ा। वह जल्दी से जल्दी दुष्ट समरकेतु को दबोच लेना चाहता था।

किन्तु समरकेतु भी पुराना घाघ था। उसके गुप्तचरों ने जब उसे सूचना दी कि राजकुमार शंख स्वयं सैन्य सहित उस पर आक्रमण करने आ रहे हैं तो उसने चालें चलना आरम्भ किया। अपने दुर्ग को छोड़कर वह पर्वत की उपत्यका में किसी गुफा में जाकर छिप गया। उसने नाममात्र के अपने सैनिक दुर्ग में छोड़े थे जिससे राजकुमार को उसके दुर्ग में ही होने का भ्रम हो। शेष अधिकांश सैनिक उसके साथ ही थे।

पल्लीपति समरकेतु की चाल तो अच्छी थी।

किन्तु एक कहावत है—तू डाल-डाल तो मैं पात-पात।

राजकुमार शंख सभी विद्याओं का ज्ञाता था। राजनीति, कूटनीति तथा युद्धविद्या में भी वह निपुण था। उसने पहले से ही यह अनुमान लगा लिया था कि समरकेतु मेरे आगमन की सूचना से घबरा जायगा। उसका साहस नहीं होगा कि वह सामने आकर मुझसे लड़ सके। इसीलिए वह चालें चलेगा। धूर्त है। मुझे धोखा देना चाहेगा। दुर्गम वन के दुर्ग में मुझे घेर लेने का प्रयत्न करेगा। स्वयं दुर्ग से निकलकर कहीं छिप जायेगा और अवसर की ताक में रहेगा।

यह पूर्वानुमान लगाकर राजकुमार शंख ने अपनी सेना का एक भाग दुर्ग में भेज दिया और शेष सेना सहित वह भी चुपचाप जंगल में ही छिप गया।

दुर्ग में प्रविष्ट होती हुई सेना को देखकर समरकेतु ने सोचा कि राजकुमार अपनी सेना सहित दुर्ग में जाकर बैठ गया है। यही अवसर है। अब उसे घेर लेना चाहिये।

उसके मन में लड्डू फूटने लगे। वह सोच रहा था कि अब राजकुमार को बचकर नहीं जाने दूँगा। सारे रास्ते रोक लूँगा। न राजकुमार को बाहर निकलने दूंगा और न ही उसकी सहायता के लिए किसी को आने दूँगा। फिर आखिर वह दुर्ग में कब तक घुसा रहेगा ? क्या खाएगा ? क्या पियेगा ? इतनी बड़ी सेना के लिए कहाँ से रसद आयेगी ?

शेर पिंजरे में पकड़ लिया गया है यह सोचकर शृगाल प्रसन्न हो गया।

वह अपने दड़बे से बाहर आ गया।

अर्थात्, धूर्त समरकेतु अपने छिपने के स्थान, उस गुफा से निकलकर आया और उसने दुर्ग के चारों ओर घेरा डाल दिया। वह इस भ्रम में था कि उसने राजकुमार को घेर लिया है।

किन्तु उसके होश तब उड़ गये जब राजकुमार शंख अपनी सेना सहित जंगल की सघन झाड़ियों और वृक्षों से अचानक बाहर निकल आया और उसने समरकेतु के घेरे पर अपना घेरा डाल दिया।

धूर्तराज दो पाटों के बीच आ गए।

दुर्ग में भी राजकुमार शंख के सैनिक थे और उसके बाहर, उसके चारों ओर भी।

इस प्रकार समरकेतु पर दुहरी मार पड़ने लगी। दुर्ग के भीतर से, दुर्ग की प्राचीरों पर से उस पर तीरों की बौछार होने लगी और पीछे से राजकुमार शंख उस पर चढ़ आया।

कहते हैं कि चोर के पैर कच्चे होते हैं। पल्लीपति समरकेतु के पैर भी तुरन्त उखड़ गए। भागने का कोई मार्ग नहीं था। जीवन यदि बच सकता था तो वह राजकुमार की शरण में आने पर ही। इस स्थिति को समरकेतु ने समझ लिया। उसने हथियार डाल दिये।

दाँतों में तृण दबाकर, हाथ जोड़कर वह राजकुमार शंख के सामने उपस्थित हुआ और जीवनदान की याचना करता हुआ बोला—

"राजकुमार ! क्षमा कीजिए। दया कीजिये। मैं आपकी शरण में हूँ।"

"समरकेतु ! याद करो, कितने असहाय और निरपराध लोगों ने तुमसे ऐसी ही याचना की होगी। तुमने उन पर दया की ?"

"राजकुमार ! मैं लज्जित हूँ। अपराध स्वीकार करता हूँ। आप से दया का दान माँगता हूँ।"

"दया किसे कहते हैं, वह कैसी होती है, यह तुम कब से जानने लगे समरकेतु ? तुमने कभी किसी पर दया की है ?"

समरकेतु का शीष झुका हुआ ही रह गया। वह कोई उत्तर नहीं दे सका। तब राजकुमार ने पुनः कहा—

"लेकिन तुम्हें दया और क्षमा दोनों, जानने को मिलेंगी। जाओ, तुरन्त आज तक लूटा हुआ सारा धन यहाँ इकट्ठा करो। एक पैसा भी बचाकर रखना नहीं, सावधान !"

राजकुमार के सैनिकों के पहरे में जाकर समरकेतु ने वे सब स्थान बताए जहाँ-जहाँ उसने आज तक की लूटों का विपुल धन छिपाकर रखा हुआ था। सैनिकों ने वह सारा धन लाकर राजकुमार के शिविर के बाहर ढेर लगाकर रख दिया।

राज्य की ओर से घोषणा कराई गई कि वे सभी लोग जो समरकेतु द्वारा लूटे गए थे आकर अपना-अपना धन वापस ले जायँ।

उस सीमा क्षेत्र में इस घोषणा से प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। लुटे-पिटे, निर्धन, असहाय व्यक्ति अपना धन वापस प्राप्त कर राजकुमार शंख को आशीर्वाद देकर अपने-अपने घर लौट गए और सुख-शान्ति से जीवन-यापन करने लगे।

राजकुमार ने समरकेतु के सच्चे प्रायश्चित्त को स्वीकार कर उसे क्षमादान दिया और उसे अपने साथ चलने का आदेश प्रदान कर वे राज-धानी की ओर चल पड़े।

मार्ग में सन्ध्या होने पर राजकुमार ने अपने सैन्य को शिविर लगा कर विश्राम करने का आदेश दिया। थके-हारे सैनिक पड़ाव डालकर रोटी-पानी की जुगाड़ में लग गए और खा-पीकर मीठी नींद के शान्त संसार में खो गए।

राजकुमार शंख भी अपने शिविर में निद्रामग्न थे।

अर्धरात्रि व्यतीत हो चुकी थी। अचानक राजकुमार की निद्रा भंग हुई। उन्होंने इस प्रकार अपनी निद्रा भंग होने का कारण जानने के लिए अपना ध्यान केन्द्रित किया।

एक करुण विलाप उनके कानों से टकराने लगा। किसी स्त्री के रोने का स्वर रात्रि के सन्नाटे को चीरता हुआ चारों दिशाओं में फैल रहा था। वह स्वर कुछ दूरी से आ रहा था अतः कुछ धीमा था।

राजकुमार शंख तुरन्त अपनी शय्या से उठ बैठे। स्वर किस दिशा से आ रहा है इसका निश्चय कर वे नंगी तलवार अपने हाथों में लेकर उस दिशा में झपट पड़े।

कुछ दूर पहुंचने पर उन्हें एक स्थान पर एक प्रौढ़ा स्त्री रोती हुई दिखाई दी। उन्होंने उससे पूछा—

"भद्रे ! शान्त और निर्भय हो जाओ। बताओ तुम क्यों रो रही हो ?"

उस स्त्री ने राजकुमार को देखा और उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि वह कोई समर्थ, वीर, भद्र पुरुष है। अतः उसे ढाढ़स बंधा। उसका विलाप थम गया। उसने बताया—

"हे दयालु वीर पुरुष ! अंगदेश में चम्पा नामक एक नगरी है। उसमें जितारि नामक गुणवान राजा राज्य करते हैं। उन्हीं के समान गुणवान उनकी रानी प्रीतिमती हैं। उनकी एक पुत्री है जिसका नाम यशोमती है। वह राजकुमारी लाखों में एक है। जितनी सुन्दर है उतनी ही गुणवती भी है। उसके रूप और गुणों का वर्णन मैं तो कर ही नहीं सकती। मैं तो एक अपढ़-गंवार दासी हूँ। राजकुमारी की सेवा करती थी। दिन सुख-चैन से व्यतीत हो रहे थे।

"किन्तु राजकुमारी यशोमती जब से विवाह के योग्य हुई है तब से हमारे महाराज और महारानी इस चिन्ता में पड़े रहते थे कि अपनी पुत्री के लिए उसी के अनुरूप सुयोग्य वर कहाँ से खोजें ?

"इस प्रकार खोजबीन जब जारी थी तब हमारे महाराज और महारानी ने आते-जाते पथिकों, यात्रियों तथा व्यापारियों से महाराज श्रीषेण के सुपुत्र राजकुमार शख के विषय में सुना कि वे परमवीर, परम गुणवान एक नररत्न हैं। राजकुमारी यशोमती ने भी यह सम्वाद सुना और वह

मन ही मन राजकुमार शंख पर अनुरक्त हो गई। उसने निश्चय भी कर लिया कि यदि विवाह करेगी तो राजकुमार शख के ही साथ। लेकिन.....।"

इतना कहकर वह दासी फिर रोने लगी तो राजकुमार ने कहा—

"रोती क्यों हो ? उसके बाद क्या हुआ यह बताओ। ऐसी क्या घटना घटित हो गई कि तुम इस बियावान जंगल में आ पड़ी हो ?"

"बताती हूँ, हे भद्र ! बता रही हूँ। हुआ यह कि राजकुमारी का मन जानकर महाराज जितारि ने महाराज श्रीषेण के पास राजकुमारी यशोमती के साथ राजकुमार शंख के विवाह का प्रस्ताव लेकर अपने पुरोहित तथा अन्य व्यक्तियों को भेजा। किन्तु महाराज श्रीषेण की ओर से कोई उत्तर आता इससे पूर्व ही एक विपदा आन पड़ी.....।"

"कैसी विपदा ? क्या हुआ भद्रे ?"

"एक कोई विद्याधर राजा है जिसका नाम मणिशेखर है। उसने महाराज जितारि से अपने लिए राजकुमारी यशोमती का हाथ माँग लिया। किन्तु राजकुमारी तो शंखकुमार को ही अपना पति, अपना इष्ट देव मान बैठी है। अब वह अपने प्राण दे देगी किन्तु किसी अन्य पुरुष का विचार तक अपने मस्तिष्क में नहीं लायेगी। अतः महाराज जितारि ने उस विद्याधर राजा मणिशेखर को स्पष्ट इन्कार कर दिया। मणिशेखर इस इन्कार से अप्रसन्न हो आया। रुष्ट हो गया। वह दुष्ट हमारी राजकुमारी का अवसर पाकर अपहरण कर ले गया। मैं उसके साथ-साथ चली, किन्तु एक विद्याधर के सामने मेरा क्या वश चलता ? वह पापी मुझे यहीं छोड़कर राजकुमारी को लेकर कहीं चला गया है.....।"

"हूँ। तो तुम्हारे रोने का यह कारण है। इसीलिए तुम दुःखी हो। किन्तु अब तुम शान्त हो जाओ। मैं तुम्हारी राजकुमारी को खोजकर अवश्य लाऊंगा। तुम चिन्ता न करो। जाओ। वह सामने ही मेरा शिविर है। वहाँ जाकर निश्चिन्त होकर विश्राम करो।"—यह कहकर राजकुमार शंख राजकुमारी यशोमती को खोजने चल पड़ा।

सारे जंगल को शंख ने छान मारा। कहीं उसे शूल चुभ जाते, कहीं ठोकर लग जाती। किन्तु इन सब कठिनाइयों की चिन्ता न करते हुए शंख कुमार ने अपनी खोज जारी रखी। रात बीतती गई।

इसी प्रकार सबेरा भी होने आया, सबेरा भी हो गया. किन्तु यशोमती और मणिशेखर का कुछ अता-पता मिल नहीं सका।

अन्ततः प्रभात होते-होते शंखकुमार को एक गुफा दिखाई दी जिसमें से कुछ ध्वनि आती हुई उसे सुनाई दी। उसने कान लगाये। किसी स्त्री और किसी पुरुष के वार्तालाप के शब्द उसे सुनाई देने लगे। वह ध्यान लगाकर, छिपकर सुनने लगा। उसने सुना—

"विद्याधर ! तुम कोई भी हो, कितने भी शक्तिशाली हो, किन्तु मेरा निश्चय अटल है। इस जीवन में और जन्म-जन्मान्तरों तक अब मैं केवल शंखकुमार की हूँ और रहूँगी।"

"यशोमती ! जिद न करो। शंखकुमार तो एक सामान्य राजकुमार ही है। और मैं ? देखो, मैं एक विद्याधर हूँ। अनेक विद्याएँ मेरे अधीन हैं। तुम मेरे प्रस्ताव को स्वीकार करो। मुझसे विवाह करने के लिए तैयार हो जाओ। सुख से रहोगी····।"

"कृपा कर अब एक शब्द भी आगे न बोलिये। मैं कह चुकी हूँ कि मेरे प्राणनाथ, मेरे स्वामी अब केवल शंखकुमार ही हैं। उनके अतिरिक्त किसी भी पुरुष का विचार तक मेरे लिए असम्भव है, पाप है।"

मणिशेखर भाँति-भाँति के प्रलोभन दे रहा था किन्तु उनका कोई प्रभाव यशोमती पर नहीं पड़ रहा था। अन्त में उसने भय दिखाया—

"यशोमती ! अन्तिम बार कहता हूँ कि तुम अब भी मेरी बात मान जाओ। अन्यथा····।"

"अन्यथा क्या ? मेरे प्राण ले लोगे, यही न ? वह तुम ले सकते हो·····।"

"प्राण तो मैं तुम्हारे शंखकुमार के लूँगा जिसे मैंने बन्दी बना रखा है।"—मणिशेखर ने झूठ का सहारा लिया और धमकाया—"और तुम्हें ? तुम्हें मैं बलात् अपनी पत्नी बनाऊँगा।"

इतना कहकर मणिशेखर यशोमती की ओर बढ़ने को हुआ ही था कि नंगी तलवार हाथ में लिए शंखकुमार कूदकर गुफा में प्रविष्ट हो गया। उस समय उसका रूप साक्षात् कालभैरव जैसा हो रहा था। उसने मणिशेखर को ललकारते हुए गर्जन किया—

"पापी ! पामर ! असत्यवादी ! एक अबला के सामने अपनी डींगें हाँक रहा है ? झूठ बोल रहा है ? एक अबला कुमारी की असहायता का

अनुचित लाभ उठाना चाहता है ? धिक्कार है तुझे । आ, यदि सामर्थ्य है तो मुझसे युद्ध कर ।"

मणिशेखर चौंककर पीछे हट गया । सकपका भी गया । किन्तु वह भी एक समर्थ विद्याधर था । तत्क्षण स्वयं को सम्भालकर, अपनी तलवार निकालकर शंखकुमार से भिड़ गया ।

दोनों वीरों में प्राणलेवा द्वन्द्वयुद्ध आरम्भ हो गया ।

निस्सन्देह विद्याधर मणिशेखर बलवान था । उसका भी यौवनकाल था । उसमें शक्ति थी, स्फूर्ति भी थी, चातुर्य भी था ।

सभी दृष्टियों से वह एक भयानक प्रतिद्वन्द्वी था ।

किन्तु शंखकुमार के सामने तो उसकी एक न चली । क्योंकि शंखकुमार कोई सामान्य पुरुष न था । वह एक असामान्य, विशिष्ट पुरुष ही था ।

वह द्वन्द्वयुद्ध बहुत देर तक चला ।

धीरे-धीरे मणिशेखर थकने लगा । वह पसीने तथा शंखकुमार की असि के दिये घावों से निकलते रक्त के लथपथ होने लगा । अतः जब उसने देखा कि इस प्रकार तो शंखकुमार के सामने उसकी एक भी चलने वाली नहीं है और उसकी पराजय निश्चित है, तब उसने अपनी मायावी शक्तियों का उपयोग करना आरम्भ किया····

उसने अपने मुख से भयानक आग के गोले निकालकर उनमें शंखकुमार को भस्म कर देना चाहा । किन्तु पुण्यशाली शंखकुमार को उनसे कोई हानि नहीं हुई । वे आग के गोले शंखकुमार की परिक्रमा करके एक-एक कर शून्य में विलीन होते गये ।

यह देखकर विद्याधर मणिशेखर निराश हो गया । उसने जान लिया कि उसका प्रतिद्वन्द्वी यशोमती का रक्षक, कोई असामान्य पुरुष है ।

परिणामतः उसने हथियार डाल दिये । अपनी पराजय स्वीकार करते हुए उसने 'त्राहिमाम्' की पुकार लगाई और शंखकुमार से कहा—

"हे महाभाग ! क्षमा कीजिये । दया कीजिये । मुझे जीवन-दान दीजिये ।"

शंखकुमार ने अपनी तलवार म्यान में रख ली और कहा—

"मणिशेखर ! मुझे तुम्हारे प्राण लेने में कोई रुचि नहीं है। मैं तो अहिंसा का पुजारी हूँ। हाँ, दीन-दुखियों और असहायों की सहायता करना तथा अत्याचारियों को समुचित शिक्षा देना मैं अपना कर्तव्य अवश्य समझता हूँ। तुम एक विद्याधर हो। समर्थ युवक हो। तुम्हें भी चाहिए कि स्वयं तुम सन्मार्ग पर चलो तथा अन्य लोगों को भी सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दो। तुम जो पाप करने जा रहे थे उसके विषय में विचार करो। क्या तुम्हें किसी अबला स्त्री पर इस प्रकार अत्याचार करना शोभा देता है ? क्या यही शिक्षा तुम विद्याधरों को दी जाती है ?"

"हे भद्र वीर पुरुष ! मुझे अब अधिक लज्जित न कीजिए। मैं अपराधी हूँ। पश्चात्ताप करता हूँ। चाहें तो मुझे दण्ड दें.....।"

"इतना ही पर्याप्त है मणिशेखर, कि तुम्हें अपनी भूल का ज्ञान हो गया है। भविष्य में ऐसा अन्याय, ऐसा अत्याचार किसी पर न करना।"

"ऐसा ही होगा। मैं आपको वचन देता हूँ। मेरी मति भ्रष्ट हो गई थी। अब भविष्य में सावधान रहूँगा।"

"ठीक है। ऐसा करोगे तो स्वयं भी सुखी रहोगे तथा अन्य को भी सुख पहुँचाओगे।"—मखिशेखर को यह उत्तम सलाह देकर शंखकुमार ने यशोमती से कहा—'राजकुमारी जी ! आप भी इस विद्याधर को क्षमा कर दीजिए। इसने घोर अपराध किया है, किन्तु अपने अपराध को स्वीकार कर लेने से अपराध की मात्रा बहुत कम हो जाती है।"

"आपकी आज्ञा से मैं इसे क्षमा करती हूँ।"—यशोमती ने किंचित् लजाते हुए उत्तर दिया।

"मेरी आज्ञा से ? मेरी आज्ञा से क्यों ? आप अपने हृदय से इसे क्षमा कीजिए।"

"मेरे हृदय और आपकी आज्ञा में कोई विशेष अन्तर नहीं है।"—जाने किस प्रेरणा से, अपनी छठी इन्द्रिय के किस संकेत से प्रेरित होकर यशोमती ने यह वाक्य कह डाला।

शायद वह शंखकुमार को बिना परिचय प्राप्त किए ही पहचान गई थी।—कौन जाने ?

तभी मणिशेखर ने शंखकुमार से कहा—

"हे महाशय ! क्या मैं आपका परिचय प्राप्त करने का अधिकारी

बन सकता हूँ ? क्या आप मुझे इस योग्य मानेंगे ? क्या आप मुझे यह सौभाग्य प्रदान करेंगे ?"

"अरे भाई मणिशेखर, इसमें योग्यता-अयोग्यता की क्या बात है ? किन्तु आप मेरा परिचय प्राप्त करके करेंगे क्या ?"

"देखिए महाशय ! आपने न केवल इन राजकुमारी जी की, बल्कि मेरी भी रक्षा की है। अतः मैं अपने रक्षक का परिचय जानना चाहूँ तो वह स्वाभाविक ही है।"

"आपकी रक्षा मैंने कैसे की है ? आपसे तो मैंने युद्ध किया है।"

"हे भद्र ! मैं पाप के मार्ग पर जा रहा था। यदि आप मुझे उस मार्ग से वापस न लौटा लाते तो क्या मेरा सर्वनाश न हो जाता ? इस प्रकार आपने मेरी आत्मा को पाप के अतल गर्त्त में अनन्तकाल के लिए डूब जाने से बचाया है। अतः आप मेरे रक्षक ही तो हुए।"

"बड़े चतुर हो तुम, मणिशेखर ! मुझे तुम से मिलकर अब प्रसन्नता है। आज से तुम मेरे मित्र हुए।"

"मेरा अहोभाग्य ! किन्तु मित्र का परिचय ?"

शंखकुमार ने अब मुस्कुराते हुए कहा—

"मैं वही हूँ मणिशेखर, जिसे तुमने बन्दी बना रखा है।"

मणिशेखर इस उत्तर से कुछ समझ नहीं पाया। आश्चर्य प्रकट करता हुआ बोला—

"मैं कुछ समझा नहीं, भद्र ! मैंने तो किसी को बन्दी बनाकर नहीं रखा है।"

"अरे, अभी-अभी तो तुम राजकुमारी जी को कह रहे थे कि तुमने शंखकुमार को बन्दी बना रखा है।"

अब रहस्य खुला। मणिशेखर और यशोमती दोनों जान गए कि यह दिव्य पुरुष अन्य कोई नहीं, स्वयं शंखकुमार ही है। यशोमती की छठी इन्द्रिय ने जो इंगित उसे किया था वह सत्य ही निकला।

शंखकुमार को साक्षात् अपने समक्ष पाकर मणिशेखर एक बार फिर लज्जित दिखाई दिया। यशोमती भी लजा गई।

किन्तु दोनों की लज्जा में अन्तर था।

मणिशेखर के मन में अपराध भावना थी, अतः वह लज्जित था।

और यशोमती क्यों लजाई यह बताने की आवश्यकता ही नहीं है। आप पाठकगण स्वयं ही यह तो जान ही सकते हैं।

जैसे-तैसे अपनी लज्जा को दूर कर मणिशेखर ने कहा—

"हे मित्र ! हे शंखकुमार ! अब बीती को बिसार दो। अन्त भला सो सब भला। मेरी अब आपसे एक प्रार्थना है, आशा है स्वीकार होगी।"

"कोई मित्र अपने मित्र से प्रार्थना करता हुआ अच्छा नहीं लगता है मित्र ! मित्रता में तो मैत्री का स्नेहपूर्ण अधिकार ही चलता है। कहो, क्या कहना चाहते हो ?"

"मित्रवर ! मैं चाहता हूँ कि आप मेरे साथ वैताढ्य पर्वत पर चलें। बड़ा ही रमणीय, पवित्र, मनोरम स्थल है वह। वहाँ चलने से सिद्धायतन की दर्शन-यात्रा भी हो जायगी तथा समीप ही मेरे वासस्थान कनकपुर भी एक बार आपको अवश्य ही चलना होगा। यदि आप यह स्वीकार करेंगे तो मुझ पर विशेष अनुग्रह होगा।"

"फिर वही अनुग्रह की बात ? अनुग्रह नहीं, आनन्द होगा। हम दोनों को। किन्तु इसमें हमें राजकुमारी जी की अनुमति लेना भी आवश्यक है।"—यह कहकर शंखकुमार ने यशोमती की ओर देखते हुए उससे पूछा—"कहिए राजकुमारी जी, क्या आप हमारे साथ सिद्धायतन की यात्रा पर चलना चाहेंगी ? अथवा आप चम्पानगरी ही जाना चाहेंगी ?"

राजकुमारी यशोमती ने लजाते-मुस्कराते संक्षिप्त उत्तर दिया—

"जहाँ आप, वहाँ मैं।"

शंखकुमार ने इस अगाध प्रेमपूर्ण तथा विश्वास भरे उत्तर को सुना, उनका मन हर्षित हुआ और वे बोले—

"अच्छा मित्र मणिशेखर, तब यही निश्चय रहा। हम वैताढ्य पर्वत की ओर चलें।"

इस स्वीकृति से मणिशेखर प्रसन्न हो गया।

उसी समय विद्याधर मणिशेखर के कुछ अनुचर उसे खोजते हुए उस स्थान पर आ पहुँचे। शंखकुमार ने उनमें से दो अनुचरों को आदेश दिया—

"तुम लोग शीघ्र जाकर मेरे शिविर में सेनानायक को मेरा आदेश दो कि वे सेना सहित हस्तिनापुर लौट जायं और पिताजी महाराज श्रीषेण को मेरा सन्देश दें कि मैं कुछ समय पश्चात् हस्तिनापुर पहुँच जाऊँगा। वे चिन्ता न करें।"

"जो आज्ञा प्रभु !"—कहकर शीष झुकाकर अनुचर जाने को उद्यत हुए तो शखकुमार ने कहा—

"और हाँ, यहाँ से दक्षिण दिशा की ओर, मेरी सेना के शिविर के समीप ही वन में एक प्रौढ़ा स्त्री तुम्हें मेरी प्रतीक्षा करती हुई मिलेगी। सम्भव है वह शिविर में ही पहुँच गई हो। उसे भी आदर सहित अपने साथ लेते आना।"

"जो आज्ञा, प्रभु !"

अनुचर विदा हुए। उनके लौटने तक शंखकुमार मणिशेखर तथा यशोमती गुफा से बाहर आकर किसी वृक्ष की सघन छाया में बैठकर प्रातः कालीन पर्वतीय सौन्दर्य का आनन्द लेते रहे।

वे अनुचर जब यशोमती की दासी सहित लौट आए तब शंखकुमार सभी लोगों सहित वैताढ्यगिरि की ओर चल पड़े।

सिद्धायतन क्षेत्र की यात्रा करने में शंखकुमार तथा यशोमती को को बहुत आनन्द आया। मन को बहुत शान्ति मिली। एक बार ऐसे स्थान पर पहुँच जाने के बाद किसी भी सहृदय व्यक्ति का मन उस पवित्र, शान्त स्थल से जाने का नहीं होता, किन्तु जीवन में कर्तव्य के मार्ग पर सभी को आगे तो बढ़ना ही होता है। अतः शंखकुमार और साथी भी वहाँ से चल कर कनकपुर जा पहुँचे।

कनकपुर में शंखकुमार और यशोमती का अभूतपूर्व स्वागत हुआ। बहुत आत्मीयता मिली। कुमार के शौर्य, उदारता, प्रेमभाव आदि सद्गुणों से वहाँ एकत्र तथा आसपास के अनेक विद्याधरों ने सहर्ष शंखकुमार की अधीनता तथा मैत्री को स्वीकार किया। अनेक विद्याधर राजा, जिनकी पुत्रियाँ विवाह के योग्य थीं, अपनी-अपनी पुत्री का विवाह शंखकुमार से करने को लालायित हो उठे। ऐसा दिव्य वर उन्हें अन्यत्र कहाँ मिलने वाला था ? उन्होंने सम्मिलित रूप से शंखकुमार से इस आशय की प्रार्थना की। शंखकुमार ने विनम्र उत्तर दिया—

"आप लोगों के स्नेह के समक्ष मैं विनत हूँ। किन्तु मैं यशोमती से विवाह से पूर्व किसी अन्य कुमारी से विवाह नहीं कर सकता। इनसे मेरा जन्म-जन्म से नाता है।"

शंखकुमार का कथन उचित था। इसे सभी ने स्वीकार किया। निर्णय रहा कि चम्पानगरी पहुँचने के बाद शंखकुमार तथा यशोमती का शुभ विवाह सम्पन्न हो जाने के बाद ही अन्य विद्याधर-कुमारियों के साथ कुमार की विवाह-विधि सम्पन्न होगी।

इस प्रकार कुछ दिन तक शंखकुमार तथा यशोमती ने सानन्द मणिशेखर का आतिथ्य स्वीकार किया और फिर वे चम्पानगरी के लिए चल पड़े।

मणिशेखर के सन्देशवाहकों ने सब समाचार महाराज जितारि के पास पहुंचा दिये थे। उनकी प्रसन्नता का कोई पार ही नहीं था। वे अपनी प्रिय पुत्री के वियोग में डूबे हुए थे। किन्तु जब उसकी कुशलता के समाचार प्राप्त हुए और यह भी सूचना मिली कि वह शंखकुमार के साथ चम्पा नगरी पहुँच रही है, तब वे प्रसन्नता के सागर में निमग्न हो गये थे।

अपनी राजधानी, चम्पानगरी के बाहर आकर उन्होंने शंखकुमार का स्वागत किया। वह दृश्य अनुपम था। सारी नगरी आनन्द और उत्साह में ऊब-चूब कर रही थी। प्रत्येक नागरिक अपनी प्रिय राजकुमारी के पुनः दर्शन पाकर, उसे अपने बीच सकुशल, सानन्द देखकर, उसके सौभाग्य की बात जानकर हर्षविभोर था। कहा जा सकता है कि उस दिन सारी चम्पानगरी पगला-सी गई थी·····बौराई होकर झूम-झूम पड़ी थी।

शुभ मुहूर्त, शुभ घड़ी में, सोल्लास, सानन्द, शंखकुमार और यशोमती का शुभ विवाह धूमधाम से निर्विघ्न सम्पन्न हुआ।

उसके बाद उन सब विद्याधर कुमारियों के साथ भी शंखकुमार ने विवाह कर लिया जिनको उसने कनकपुर में वचन दिया था।

महाराज जितारि के आग्रह पर कुछ दिन शंखकुमार ने चम्पानगरी में ही व्यतीत किये।

वे दिन देखते-देखते ही व्यतीत हो गए। सुख के दिन कब आते और कब चले जाते हैं—ज्ञात ही नहीं हो पाता।

अन्ततः विदा की बेला भी आ गई।

वासुपूज्य भगवान के पुण्य स्मरण करते हुए शंखकुमार यशोमती तथा अपनी अन्य पत्नियों सहित एक दिन हस्तिनापुर पहुंच गये।

\+ \+ \+

महाराज श्रीषेण वृद्धावस्था की ओर ढल रहे थे। शंखकुमार राज्य-संचालन के लिये समर्थ योग्य हैं, यह बात महाराज श्रीषेण ही क्या, सारा संसार जान गया था। अतः महाराज श्रीषेण ने एक दिन शंखकुमार को बुलाकर कहा—

"कुमार! प्रिय पुत्र! अब तुम राजा बनने के योग्य हो चुके हो और मैं बूढ़ा हो रहा हूँ। अतः यह राज्य का भार अब तुम वहन करो। मैं अपने आत्म-कल्याण के लिये तपश्चरण करना चाहता हूँ।"

पिता का यह कथन सुनकर शंखकुमार उदास हो गए। वे बोले—

"पिताश्री! आप जो भी धर्म-ध्यान करना चाहें, वह सुखपूर्वक यहीं रहकर कीजिए। मुझे राजा बनने की कोई अभिलाषा नहीं है....।"

"जानता हूँ बेटे! किन्तु मैं अभिलाषा की बात नहीं कर रहा, कर्तव्य की बात कहता हूँ। अब तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम राजा बनकर अपनी प्रिय प्रजा का प्रेमपूर्वक पालन और रक्षण करो तथा मुझे धर्म की शरण में जाने दो।"

"किन्तु पिताजी.....।"

"न कोई किन्तु, न कोई परन्तु। जीवन गति का ही नाम है। प्रत्येक प्राणी को गतिशील बने रहना चाहिए। मुझे भी अब आगे बढ़ने दो।"

शंखकुमार ने बहुत आग्रह किया। पूर्वजन्म के उसके दोनों भाई सूर और सोम आरण देवलोक से च्युत होकर इस भव में उसके यशोधर तथा गुणधर नामक भाई हुए थे। उन्होंने भी बहुत आग्रह किया। किंतु महाराज श्रीषेण अविचलित ही रहे।

शुभ दिन, शुभ समय में शंखकुमार का राजतिलक कर दिया गया। अब वे महाराज शंख बन गए।

महाराज श्रीषेण ने गुणधर नामक गणधर के पास भगवती दीक्षा ग्रहण कर ली।

बहुत काल तक उग्र तपश्चरण के पश्चात् उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। वे भव्य जीवों को धर्म का मार्ग बताते हुए इतस्ततः विचरण करने लगे।

एक समय देवताओं के साथ विहार करते हुए वे हस्तिनापुर आ पहुँचे। महाराज शंख को जब उद्यानपाल ने सूचना दी कि केवली भगवन्त का शुभ पदार्पण हुआ है तो वे हर्ष से विभोर होकर सपरिवार, समस्त विशिष्ट राजकर्मचारियों सहित भगवान के दर्शन हेतु गए।

समाचार पाकर सारी हस्तिनापुर नगरी ही भगवान के दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी।

अपूर्व, अद्‌भुत उत्साह था।

और भगवान् की मुख-छवि तो त्रिलोक को प्रकाशित करने वाली ही थी।

महाराज शंख ने जब भगवान् का धर्मोपदेश सुना तब उनका मन इस ससार से मानो कहीं परे हटने लगा। उन्होंने एक प्रश्न भगवान से पूछा—

"हे भगवन् ! जैन धर्म प्रत्येक प्राणी के कल्याण का एकमात्र राज-मार्ग है। इस धर्म के मर्म को जो भी समझ लेता है वह यह जान जाता है कि यह संसार असार है। इस संसार के सम्बन्ध क्षणिक हैं, इसलिए असत्य भी हैं। यहाँ कोई किसी का सगा नहीं है। इन क्षणिक, सांसारिक सम्बन्धों को यहीं छोड़कर एक दिन सभी को अपनी-अपनी राह पर अलग-अलग एकाकी चले जाना है। इतना तो मैं जान गया हूँ भगवन् ! किन्तु फिर भी क्या कारण है कि यशोमती पर मुझे विशेष अनुराग है ? कृपा कर मेरे कल्याण की दृष्टि से मुझे यह बताइये।"

भगवान् केवलज्ञानी थे। त्रिकाल और त्रिलोक की प्रत्येक स्थिति वे जानते थे। भूत, वर्तमान और भविष्य उनके समक्ष स्पष्ट था।

वे यह भी जानते थे कि महाराज शंख की जिज्ञासा शान्त करने से उनका कल्याण ही होगा—सिद्ध स्थिति की ओर ले जाने वाला उनका मार्ग प्रशस्त होगा। अतः उन्होंने बताया—

"पहले जन्म में यह यशोमती तुम्हारी धनवती नामक पत्नी थी। हे राजन् ! इसके पश्चात् सौधर्म देवलोक में तुम दोनों को देवत्व की प्राप्ति हुई। वहाँ भी तुम दोनों में बहुत प्रेमभाव बना रहा। उसके बाद तुम चित्रगति के रूप में जब आये तब यह रत्नवती नाम से तुम्हारी पत्नी हुई। वहाँ से माहेन्द्र देवलोक में तुम दोनों पुनः देवता हुए और उसी प्रेमभाव से रहते रहे।

"फिर तुम अपराजित होकर आये और यह प्रीतिमती बनकर तुम्हारी पत्नी हुई। उस जन्म के पश्चात् तुम दोनों आरण देवलोक में आए और मित्र भाव से रहते रहे। उस देवलोक से च्युत होकर सातवें जन्म में अब तुम शंखकुमार हुए, शंख राजा बने हो, और यह यशोमती नाम से अब तुम्हारी रानी है। ये सब पूर्व जन्मों के सम्बंध हैं। इसी कारण से तुम्हें इस पर विशेष प्रीति है।

"राजन्! उन्नति का मार्ग सोपान-दर-सोपान चढ़ता है। तुम उसी मार्ग के यात्री हो। इस जन्म के बाद तुम अनुत्तर विमान में जाओगे और वहाँ से च्युत होकर तुम भरतक्षेत्र में नेमिनाथ के नाम से बाईसवें तीर्थंकर बनोगे। जीवन का वह तुम्हारा अंतिम, चरम-चरण होगा।

"यह यशोमती उस जन्म में राजीमती नाम से जन्म लेगी। किंतु तुम उस जन्म में इससे विवाह नहीं करोगे। लेकिन यह तुम पर अनुराग रखेगी और तुम्हारे ही पास दीक्षित होकर यह भी चरम-परमपद की प्राप्ति करेगी।"

इतना कहकर केवली भगवान् मौन हो गए।

किन्तु शंख राजा के हृदय में वैराग्य भावना का मधुर संगीत अनवरत गति से झंकृत हो उठा। विचारों के महासागर में किसी निर्णय का कूल खोजते वे भगवान् को सविधि वन्दन करके अपने महल में लौट आए।

वे मौन थे, किन्तु वैराग्य भावना का संगीत तो मुखर हो रहा।

फिर वे निर्णय पर पहुँच गए।

अपने पुत्र पुण्डरीक को राजसिंहासन तथा शासन भर सौंपकर उन्होंने केवली भगवान् के समीप ही दीक्षा ग्रहण कर ली।

उनकी जन्म-जन्मांतर की संगिनी, यशोमती भी पीछे कैसे रहती? उसने भी पति का अनुगमन किया। वह भी दीक्षित होकर आत्म-साधना में लीन हो गई।

राजा शंख के दोनों भाई तथा मंत्री भी कल्याण के उसी मार्ग पर चल पड़े। वे भी दीक्षित हो गए।

शंख मुनि ने कठोर तप किया।

दीर्घकाल की तपस्या के परिणामस्वरूप वे गीतार्थ हुए। तत्पश्चात् अरिहन्त भक्ति एवं बीस स्थानकों की आराधना करने से उन्होंने तीर्थंकर

नामकर्म का उपार्जन किया। अब यह अटल था कि वे तीसरे भव में तीर्थंकर बनकर लोक कल्याण हेतु धर्मतीर्थ की स्थापना करेंगे एवं स्वयं सिद्ध-स्थिति को प्राप्त करेंगे।

और फिर अंत में, पादोपगमन अनशन कर वे पुण्यात्मा शंख मुनि देह त्याग कर अपराजित विमान में गमन कर गए।

उसी प्रकार संयम की साधना करते हुए, जप-तप में लीन रहते हुए साध्वी यशोमती एवं अन्य मुनि भी अपराजित विमान के ही अधिकारी बने।

सभी अपने-अपने मार्ग पर आगे बढ़ गए।

किन्तु हम कहाँ आ पहुँचे, प्रिय पाठकवृन्द !

देखिए, आपकी तो आप ही जानें। आप ज्ञानी हैं, विचारशील हैं—विचार करें।

जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं तो आपको यह कथा सुनाते हुए अब इस कथा के उस मोड़ पर आ पहुँचा हूँ जहाँ पर भगवान् नेमिनाथ के अन्तिम और चरम, उच्चतम पुरुषार्थमय जीवन की दिव्य झाँकी के दर्शन मुझे होने लगे हैं।

आइये, उस दिव्य जीवन की अद्भुत छवि मेरे साथ आप भी निहारिये।

□

[५]

किन्तु थोड़ा धीरज तो रखना ही होगा।

एक सुन्दर फूल खिला हुआ होता है तो वह सुन्दर तो होता ही है, हमें सुख देता है, सौरभ प्रदान करता है, लेकिन उस सौन्दर्य तथा सौन्दर्य का आधार उसके मूल में होता है—उसके आसपास के परिप्रेक्ष्य में भी होता है।

भगवान् अरिष्टनेमि के परम पावन दिव्य जीवन के सम्पूर्ण सौन्दर्य, सौरभ एवं सार्थकता को ग्रहण कर पाने के लिए हमें यह जान लेना चाहिए कि वे किस कुल में अवतरित हुए, किस काल में उन्होंने अपने परम पुरुषार्थ से तीर्थंकरत्व की प्राप्ति की, उस समय भरतक्षेत्र का सामाजिक वातावरण कैसा था और उस वातावरण को उन्होंने अपने परमोज्ज्वल चरित्र से क्या दिशा निर्देश दिए ?

पवित्र गंगा और यमुना नदियों ने हमारे भरतक्षेत्र को जीवन और सौन्दर्य दोनों ही प्रदान किए हैं। इस भूभाग की समृद्धि और शोभा इन्हीं दोनों सरिताओं के कारण ही रही हैं, यदि ऐसा कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। इन विशाल सतत पयस्विनी सरिताओं के किनारे हमारी भारतीय संस्कृति जन्मी, पली और निरन्तर विकास करती रही।

हमारी कथा निर्मल नील-नीरा यमुना के किनारे आगे बढ़ती है....।

महान् हरिवंश के एक नरेश शौरि ने अपने छोटे भाई सुवीर को मथुरा का राज्य देकर कुशावर्त में शौरिपुर (सोरियपुर) नगर बसाया था। आजकल यदि कोई उस प्राचीन नगर की पहचान करना चाहे तो उसे आगरा के समीप यमुना के किनारे बटेश्वर के पास सूर्यपुर अथवा सूरजपुर या शौरीपुर—सोरियपुर में जाकर प्राचीन अवशेषों की खोज और अध्ययन करना चाहिए।

भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म होने वाला था।

उस समय सोरियपुर में द्वैध राज्य था।

दो भाई उस भूभाग पर शासन करते थे, प्रीतिपूर्वक, अपनी प्रजा के पालन में निष्ठावान बनकर।

एक थे वसुदेव! उनकी दो रानियाँ थीं—रोहिणी और देवकी। रानी रोहिणी के पुत्र थे बलराम और देवकी के पुत्र थे केशव, जो श्रीकृष्ण के नाम से जग विख्यात हुए। वसुदेव वृष्णिकुल के नेता थे।

दूसरी ओर अन्धक कुल से नेता थे समुद्रविजय, जिनकी पटरानी का नाम शिवादेवी था। उनके चार पुत्र थे—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि। ये अरिष्टनेमि ही भव-भव को समाप्त करने वाले हमारे बाईसवें तीर्थंकर हुए। जबकि रथनेमि और सत्यनेमि प्रत्येकबुद्ध बने।

इस संक्षिप्त भूमिका के साथ हमारी कथा अब आगे बढ़ती है—

मनभावन कार्तिक मास की कृष्णा त्रयोदशी थी। रात्रि के पूर्वापर भाग की सन्धि बेला। चित्रा नक्षत्र। उस समय अपराजित महाविमान में बत्तीस सागरोपम का आयुष्य भोगकर शंख देव का जीव माता शिवादेवी की कुक्षि में आया।

वह समय कितना पावन, कैसा पुण्यवान था। महारानी शिवादेवी ने उस समय चौदह महास्वप्न देखे। उन्होंने स्वप्न में हस्ति, वृषभ, सिंह, लक्ष्मीदेवी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कुम्भ, पद्म सरोवर, क्षीर सागर, विमान, रत्नपुञ्ज तथा निर्धूम अग्नि के दर्शन किये।

इन महास्वप्नों को देखकर महारानी शिवादेवी मन ही मन विस्मित होकर उठ बैठीं और सोचने लगीं कि मुझे ये अद्‌भुत स्वप्न क्यों आए? क्या ये स्वप्न किसी भावी महान् घटना का संकेत करते हैं? यदि हाँ, तो वह घटना क्या हो सकती है? क्या होने वाला है?

राजा समुद्रविजय प्रगाढ़ निद्रा में लीन थे उस समय, अतः रानी जागी-जागी राजा के उठने की प्रतीक्षा करती रहीं, आतुरतापूर्वक। उन्हें लग रहा था कि समय ठहर गया है क्या? भोर जल्दी क्यों नहीं हो रही? राजा कब जागेंगे? कब वह उन्हें अपने स्वप्नों की बात कहेगी और पूछेगी कि इन स्वप्नों का क्या अर्थ है?

आखिर भोर भी हुई। राजा समुद्रविजय जागृत हुए। तब रानी शिवादेवी ने उन्हें उन स्वप्नों की बात बताकर पूछा—

"प्राणनाथ ! ऐसे विचित्र किंतु भव्य स्वप्न तो शायद ही कोई कभी देखता हो। धर्मशास्त्रों में जितना पढ़ा है उसके अनुसार ये स्वप्न अवश्य ही कोई न कोई शुभ संकेत ही प्रदान करते हैं। किंतु आप बताएँ कि ठीक-ठीक बात क्या हो सकती है ?"

राजा समुद्रविजय ने शांतिपूर्वक महारानी की बात सुनी और थोड़ा विचार किया। उनका हृदय भी इन स्वप्नों की बात जानकर प्रसन्न-प्रसन्न हो गया था। किंतु वे कोई स्वप्नज्ञानी तो थे नहीं। बोले—

"महारानी ! इतना तो निश्चित है कि ये चौदह स्वप्न किसी बहुत शुभ और महान् घटना की आगाही दे रहे हैं। किंतु मैं भी दृढ़तापूर्वक तो यह बता नहीं सकता कि क्या होने वाला है। ऐसा करते हैं कि आज ही राज्य के स्वप्नशास्त्र विशेषज्ञों को राजसभा में आमंत्रित करते हैं। उन्हीं से पूछेंगे।"

"हाँ, महाराज ! यही ठीक होगा। तो अब आप शीघ्र ही दैनन्दिन कार्यों से निवृत्त हो लीजिए और राजसभा का आयोजन शीघ्र ही कराइए। मैं बहुत उत्सुक हूँ।"

"मैं भी। लो, मैं यह चला।" कहकर राजा समुद्रविजय राजसभा के लिए तैयार होने लगे।

राजसभा में प्रमुख स्वप्नज्ञानी क्रौष्ट्रकि ने महारानी के देखे स्वप्नों की बात जानकर तनिक भी संदेह में पड़े बिना निश्चयपूर्वक कथन किया—

"जय हो ! वीतराग भगवंतों की जय हो ! महाराज ! बधाई हो ! तीनों लोकों के उपकारक और स्वामी तीर्थंकर भगवान् महारानी जी की कुक्षि में अवतरित हुए हैं। इन महास्वप्नों का यही आशय है। यदि मेरा यह स्वप्नफल मिथ्या सिद्ध हो तो मैं अपनी पोथियों को अग्नि देवता को अर्पित कर दूँ।"

उस समय इधर-उधर विचरण करते हुए एक मुनिवर भी राजसभा में आ पहुँचे थे। उन्होंने भी यह सारा दृश्य मौन रहकर देखा था और क्रौष्ट्रकि का भविष्य-कथन सुना था। महाराज समुद्रविजय ने मन ही मन हर्षित होते हुए एक प्रश्नवाचक दृष्टि पूज्य मुनिवर की ओर डाली और कहा—

"पूज्य मुनिवर ! हमारे स्वप्नशास्त्री ने जो कुछ कहा.....।"

"ठीक कहा है, राजन् ! आप तो भाग्यवान हैं ही, यह त्रिलोक भी धन्य हो गया।"

मुनिवर के इस पुष्टि-कथन से राजा-रानी सहित सारी सभा अपार आनंद के सागर में डूब गई।

जानकारी मिलने पर सारी नगरी में और शुभ समाचार फैलने पर सारे राज्य में परम हर्ष व्याप्त हो गया।

केवल एक नगरी अथवा राज्य की ही क्या बात—भगवान् के जन्म से तो त्रिभुवन आलोकित, हर्षित और धन्य होने वाला था।

महारानी शिवादेवी बड़े जतन से, मगन मन अपने पुण्यशाली गर्भ का रक्षण और पालन करने लगीं। उन दिनों में उनकी शरीर शोभा अपूर्व हो गई थी।

\+ \+ \+

और फिर स्वयं धन्य होती और त्रिभुवन को धन्य करती आई श्रावण शुक्ला पंचमी।

पंचमी की उस शुभ रात्रि को जब चित्रा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग हुआ तब रानी शिवादेवी ने एक परम तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। उस शिशु की देह शोभा का वर्णन किन शब्दों में किया जा सकता है ? उसकी देहकांति मरकत-मणि के समान सौंदर्य एवं आभासय थी। उसकी देह पर शंख का लांछन (चिन्ह) था।

राजा-रानी उस पुत्ररत्न को देखकर और त्रिभुवन उसे पाकर धन्य-धन्य हो गया। उस समय तीनों लोक प्रकाशित हो गए। अन्तर्मुहूर्त तक नारकीय जीवों को भी सुख मिला। तीर्थंकरों के जन्म के समय यह अनिवार्य रूप से होता ही है।

उस पुत्र का जन्म होते ही छप्पन दिशिकुमारिकाओं ने स्वस्थान से आकर शिवारानी का प्रसूति कार्य किया। पंचरूप धारण कर स्वयं सौधर्मेन्द्र आए। उन्होंने प्रभु का एक प्रतिबिम्ब शिवादेवी के पास रखकर उन्हें अपने हाथों में उठा लिया। अपने दो रूपों से दोनों ओर दो चमर और एक रूप से छत्र धारण किया, पाँचवें रूप से आगे-आगे वज्र उछालते हुए वे उन्हें मेरुपर्वत पर अति पाण्डुकंबला शिला पर ले गए। वहाँ इन्द्र प्रभु को अपनी गोद में लेकर एक सिंहासन पर आसीन हो गए। तब अच्युत आदि

तिरेसठ इन्द्रों ने भक्तिपूर्वक भगवान् को स्नान कराया। शक्रेन्द्र ने भी इसके बाद ईशानेन्द्र की गोद में बैठाकर प्रभु को स्नान कराया। यह सब कार्य पूर्ण भक्ति एवं विधिपूर्वक किया गया।

इस स्नानविधि के पूर्ण होने के पश्चात् दिव्य पुष्पवृष्टि के बीच शक्रेन्द्र ने प्रभु की स्तुति की—

"हे प्रभु ! हे बाईसवें तीर्थंकर ! हे मोक्षगामिन ! हे शिवादेवी के रत्न ! आपके द्वारा हमारा कल्याण हो। यह हरिवंश आज पवित्र हुआ। यह भारतभूमि आज धन्य हुई।

"हे भगवन् ! मोक्ष सुख आपके करतल में निवास करता है। आप त्रिकालज्ञानी हैं। लक्ष्मी के निधान रूप हैं। चरमशरीरी हैं। आपको अनेकानेक नमन हैं।

"हे प्रभु ! आप संसार के आधार हैं। ब्रह्मचर्य के स्थान तथा समस्त ऐश्वर्य के आगार हैं। आपके दर्शनमात्र से समस्त प्राणियों का मोह नष्ट होता है तथा उन्हें ज्ञान की प्राप्ति होती है। आप अकारण त्राता, अकारण वत्सल हैं। अकारण समस्त जीवों का पालन करने वाले हैं। आपने जीवों को सम्यक्त्व प्रदान करने हेतु जन्म लिया है।

"हे नाथ ! हमारा मन सदैव आपके श्रीचरणों में विनत रहे। हमारी जिह्वा सदैव आपका गुणगान करती रहे।"

इस प्रकार प्रभु की स्तुति करने के पश्चात् शक्रेन्द्र ने प्रभु को पुनः यथास्थान, शिवादेवी के समीप रख दिया और पाँच अप्सराओं को उनकी धात्री के स्थान पर नियुक्त कर वे नन्दीश्वर होते हुए अपने स्थान को चले गए।

शौरिपुर में पुत्र-जन्मोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया। राजा समुद्रविजय ने मुक्तहस्त होकर इतना दान किया कि उनके राज्य में एक भी व्यक्ति किसी भी प्रकार के अभाव से ग्रस्त नहीं रह गया।

बन्दीजन मुक्त कर दिए गए। उनका हृदय-परिवर्तन हो गया। शेष जीवन में कभी कोई अपराध न करने का अटल निश्चय लेकर वे राजा और उनके बालपुत्र का गुणगान करते हुए अपने-अपने परिवारों से जा मिले।

रानी शिवादेवी ने प्रभु के गर्भ में आने के समय चौदह महास्वप्नों

के बाद अरिष्ट रत्न की चक्रधारा देखी थी। अतः महाराज समुद्रविजय ने बालक का नाम अरिष्टनेमि रखा। हो सकता है कि राजा समुद्रविजय के मन में यह विचार भी रहा हो कि भगवान् अरियों अर्थात् शत्रुओं का भी इष्ट करने वाले हैं, अतः उनका नाम अरिष्टनेमि ही उचित होगा।

मथुरा नगरी में भाई वसुदेव को जब इस पुत्र जन्म की सूचना मिली तब उन्होंने भी हर्षित होकर आनन्दोत्सव मनाया।

उनका पुत्र, कृष्ण तो यह समाचार पाकर मचल पड़ा—

"मैं अपने भाई को देखने जाऊँगा, पिताजी !"

"हाँ हाँ, जाना, अवश्य जाना रे ! मुझे कौन रोकता है ? कौन रोक सकता है ?"—वसुदेव ने उत्तर दिया और अपने नटखट बेटे का माथा चूम लिया।

× × × ×

घटनाचक्र अब कुछ तीव्र गति से घूमने लगा था।

अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण चचेरे भाई थे। अरिष्टनेमि छोटे थे, श्रीकृष्ण बड़े। दोनों महापुरुष थे। अरिष्टनेमि तो तीर्थंकर होने ही वाले थे, किन्तु श्रीकृष्ण भी वासुदेव थे। वासुदेव अतुल बलशाली होते हैं। अपने जन्म से ही वासुदेव अनेक चामत्कारिक कार्य करते हैं। दुष्टों का दलन एवं अधर्म के स्थान पर धर्म की ध्वजा फहराने में उनका पौरुष अपना पराक्रम दिखाता है। जन्मान्तर में वे भी सिद्ध पद की प्राप्ति करते हैं।

बालक अरिष्टनेमि का विकास धीरे-धीरे हो रहा था। वैसे तो वे जन्म से ही समस्त शक्तियों के स्वामी थे, किन्तु शारीरिक दृष्टि से तो वे एक बालक के रूप में ही परिवर्धित हो रहे थे। उनका शरीर सुगठित, बलिष्ठ एवं कान्तिमान था। और उनकी यह देहकान्ति मानो पल-पल बढ़ती ही जाती थी और देखते ही बनती थी। श्रीकृष्ण की ही भाँति उनका वर्ण भी श्याम ही था किन्तु वह नील-श्याम वर्ण कैसा अद्भुत सौन्दर्य बिखेरता था। उनकी मुखाकृति अत्यन्त मनमोहक, चित्ताकर्षक एवं तेजोमय थी। उनके शरीर पर एक हजार आठ शुभ लक्षण थे। वे वज्रऋषभनाराच संहनन एवं समचतुरस्र संस्थान के धारक थे। उनका उदर मत्स्य की आकृति का था। पूर्ण शारीरिक विकास होने पर वे दस धनुष्य लम्बे थे। उनका स्वर तो इतना मधुर था कि सुनने वाले के मन के सभी विकार उस स्वर के माधर्य में धुल जाते थे।

जहाँ तक आन्तरिक सौन्दर्य का प्रश्न है वह तो उनके शारीरिक सौन्दर्य से भी अधिक प्रगाढ़ एवं प्रभावी था। उनका हृदय उदारता का आगार था। वे एक राजकुमार थे, किन्तु राजकीय वैभव का अभिमान उन्हें स्पर्श तक नहीं कर सका था। उनकी वीरता अनुपम थी। उनका धैर्य अगाध था। उनकी योग्यता और ज्ञान को देखकर संसार चकित था।

जब अरिष्टनेमि आठ वर्ष के हुए तब यादव कुल पर जरासन्ध के रूप में एक प्रबल अन्धड़ उमड़ आया। यह घटना इस प्रकार घटित हुई—

मथुरा में कंस के अत्याचार प्रजा के लिए असह्य होते जा रहे थे। वह बलवान भी था और क्रूर भी। जरासन्ध का जामाता होने के कारण करेला नीम पर चढ़ गया था। जरासन्ध की पुत्री जीवयशा से उसका विवाह हुआ था। अतः उसे अपने बल का अभिमान भी था और जरासन्ध की अपरिमित शक्ति का भी। अपने आगे किसी को वह कुछ गिनता ही नहीं था।

कंस को पूर्व सूचना मिल चुकी थी कि वसुदेव और देवकी का सातवाँ पुत्र उसका काल बनेगा। उसी के हाथों उसकी मृत्यु होगी। अतः उसने वसुदेव द्वारा अपने पर किए गए सारे उपकारों को भुलाकर उन्हें प्रायः बन्दी अवस्था में रख दिया था और उनसे वचन ले लिया था कि वे अपने प्रथम सात गर्भ उसे दे देंगे। वसुदेव ने यह वचन उसे दे रखा था। एक-एक कर कंस उन सभी सन्तानों को नष्ट करता जाता था और सोचा करता था कि न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी।

किंतु होनी किसके टाले टली है ?

श्रीकृष्ण की बाँसुरी को तो बजना ही था और ऐसा बजना था कि उसकी धुन सुनकर सज्जनों के हृदय शीतल हों और दुर्जनों को उसमें साक्षात् काल का घोष सुनाई पड़े।

अस्तु, वसुदेव-देवकी की सातवीं संतान, श्रीकृष्ण कस के हाथों में पड़ नहीं सके। वे बचे रहे, पलते-बढ़ते रहे और कंस का काल पल-पल समीप आता रहा।

पूरी तरह से सावधान रहते हुए भी कंस कृष्ण को कैसे पकड़ नहीं पाया, पहचान नहीं पाया और खोज नहीं पाया इस विस्तार में हम अभी अपने पाठकों को नहीं ले जायेंगे। कथा को आगे बढ़ने देते हैं। आगे कहीं

यथास्थान हम सूचित करेंगे कि कृष्ण और उनके छह छोटे भाइयों का जीवन-रक्षण किस प्रकार हुआ था।

अभी तो सीधी बात—कंस मारा गया।

श्रीकृष्ण के रूप में स्वयं काल ने ही मानो उसे कवलित कर दिया।

और इस घटना से जो तूफान आना था, वह उमड़ पड़ा। जरासन्ध ने जब अपनी पुत्री से यह जाना कि गोकुल के उस ग्वाले, कृष्ण ने कंस का वध कर दिया है तो वह साक्षात् भूचाल बन गया। भयंकर विषधर की भाँति उसने फूत्कार की—

"सेनापति ! हमारी चतुरंगिणी सेना तैयार करो। हम इस यादव कुल का समूल नाश कर देंगे।"

"जो आज्ञा, महाराज !"—कहकर सेनापति अपने कार्य में लग गया।

जीवयशा का शोक तो मानो किसी पार नहीं पहुँच रहा था। वह कभी रोती और कभी क्रोध में अपनी वाणी से अंगारे बरसाती हुई अपने पिता जरासंध से कह रही थी—

"पिताजी ! यमुना के तट पर सभी लोगों ने मेरे पति की उत्तर क्रिया के पश्चात् स्नानोपरांत उन्हें गंगाजलि दी, किंतु मैंने उन्हें गंगाजलि नहीं दी है। मैंने उसी समय सभी के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि बलराम और कृष्ण तथा समस्त संतति सहित दसों दशार्हों की मृत्यु के पश्चात् हो मैं अपने पति की उत्तर क्रिया करूंगी। और यदि मैं ऐसा नहीं कर सकी तो स्वयं चिता में जल मरूँगी····।"

"अरे बेटी ! तूने यह क्या किया ? यह कैसी प्रतिज्ञा कर डाली····? किंतु चिंता भी कैसी ? तेरी प्रतिज्ञा मैं पूर्ण करूँगा। सारे यादव कुल को समूल उखाड़ फेंकूँगा और उस कृष्ण को तो मैं ऐसी मौत मारूँगा कि त्रिलोक भी काँप उठे।"

"हाँ, पिताजी ! वह छोकरा····वह काला-कलूटा गोकुल का ग्वाला मेरे पति की छाती पर चढ़ बैठा····उनके केश पकड़कर कितना घसीटा उसने, उन्हें भरी सभा में····हाय ! यदि अपनी आँखों से न देखा होता तो क्या यह विश्वास करने योग्य बात है ? मेरे महाबली पति की एक साधारण छोकरा इस प्रकार दुर्गति बना दे ? पिताजी, वह ग्वाला····।"

"बेटी ! अब तू शांत हो जा। जरासंध की शक्ति और जरासंध के क्रोध को समस्त भरतखण्ड जानता है। लेकिन····लेकिन पुत्री ! एक बात तो बता—क्या वह कृष्ण एक साधारण ग्वाला ही है ? उसके विषय में कैसी-कैसी बातें सुनने में आती रहती हैं। सुना है उसने और भी अनेक बलशालियों को धूल चटा दी है ?"

"धूल ही नहीं चटाई पिताजी, उस दुष्ट ने उन सब के प्राण भी ले लिए हैं। उसने क्या नहीं किया ? आर्यपुत्र ने राजज्योतिषी के कहने पर महाबलशाली अरिष्ट नामक वृषभ, साक्षात् काल सदृश्य केशी नामक अश्व, दुर्दान्त गर्दभ एवं दुर्दमनीय मेष को वृन्दावन में इसलिए छोड़ा कि वे वहाँ जाकर प्रलय मचा देंगे और उस कृष्ण को भी समाप्त कर देंगे। किंतु वह पापी तो उन सभी का काल सिद्ध हुआ। उसने इन सभी को भी मार डाला।

"इतना ही नहीं, उसने महा भयानक कालिय नाग का दमन किया और जब आर्यपुत्र ने चाणूर नामक अतुल बलशाली मल्ल को कृष्ण से भिड़ाया तो उसने चाणूर को ऐसे मसल दिया जैसे आप किसी मच्छर को मसल डालते हैं····"

"ओह, बेटी ! मैं इस कृष्ण को अब जीवित नहीं छोड़ सकता। मैं उसे मच्छर की भाँति ही मसल डालूँगा····।"

"हाँ, पिताजी, तभी मैं आर्यपुत्र की उत्तर क्रिया करूँगी और इसके बाद—इसके बाद उस छोकरे ने एक दिन आर्यपुत्र के विख्यात पद्मोत्तर और चम्पक नामक हाथियों को भी मक्खियों की तरह मार डाला····।"

"आश्चर्य है, बेटी ! आखिर वह छोकरा यह सब कैसे कर सका ?"

"कौन जाने, पिताजी ! लोग कहते हैं कि वह छोकरा कोई सामान्य पुरुष नहीं, असामान्य पुरुष है। और जैसा कि मैंने सुना है, लोग कहते हैं कि उस कृष्ण का एक कोई चचेरा भाई भी है जिसका नाम अरिष्टनेमि है। वह समुद्रविजय का पुत्र है। लोग कहते हैं कि वह तो इतना बलशाली है कि वह चाहे तो इच्छा मात्र से ही तीनों लोकों को विजय कर सकता है। कैसी-कैसी गप्पें हाँकते हैं लोग ?"

"और नहीं तो क्या, गप्पें ही हैं यह सब। तू चिंता न कर बेटी, और अब शान्त हो जा। मैं इस यादव कुल में कोई नाम लेवा भी शेष

नहीं रहने दूँगा। कल सूर्योदय के साथ ही मेरी सेना रणघोष करती हुई मथुरा की ओर दौड़ पड़ेगी। तू देखती जा। लेकिन तूने अभी यह किस अरिष्टनेमि के बारे में कहा? वह तो अभी सात-आठ वर्ष का दुधमुँहा बालक ही होगा।"

"हाँ, पिताजी, है तो वह इसी आयु का। किन्तु हमारे गुप्तचरों ने पता लगाया है और बताया है कि वह बालक भी कुछ विचित्र-सा ही दिखाई देता है। देखने में इतना सौम्य और सुन्दर है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। किन्तु उसकी चारित्रिक दृढ़ता भी अभूतपूर्व है। एक कहावत है न, कि कोई-कोई व्यक्ति कुसुम से भी कोमल और वज्र से भी कठोर, एक साथ ही होते हैं। समुद्रविजय के उस पुत्र के लिए भी लोग कुछ ऐसी ही ही बातें कहते हैं।"

"कहते होंगे। कहने दे। मैं इन बातों से डरने वाला नहीं हूँ। मैं कल ही प्रस्थान करता हूँ और इस पूरे कुल का ही विनाश करके आता हूँ। देखता हूँ कि कौन है यह कृष्ण और कौन है यह अरिष्टनेमि?"

\+ × × ×

श्रीकृष्ण वासुदेव थे। वासुदेवों में अतुल बल होता है।

अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर थे—त्रिभुवन की समस्त शक्तियाँ और सिद्धियाँ उनके शरीर और चरित्र में निवास करती थीं।

किन्तु जरासन्ध भी प्रतिवासुदेव था। प्रतिवासुदेव भी अत्यन्त बलशाली होते हैं।

यह सुनिश्चित है कि अन्ततः वासुदेव ही प्रतिवासुदेव पर विजय प्राप्त करके उसकी मृत्यु का कारण बनते हैं, किन्तु इससे पूर्व का संघर्ष भी अति भीषण होता है। इस महाभयानक संघर्ष में लाखों मानवों एवं अन्य प्राणियों का संहार सम्भाव्य है।

और वह जरासन्ध, वह प्रतिवासुदेव, आँधी-तूफान की तरह मगध में अपनी राजधानी राजगृही से मथुरा की दिशा ने बढ़ता चला आ रहा था।

यादवों की स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी उपलब्ध करने हेतु जरासन्ध ने अपने कुशल गुप्तचर आगे-आगे भेज दिये थे। उन गुप्तचरों में एक सोम नामक समझदार आदमी भी था। वह जरासन्ध की सेवा में तो

अवश्य था, किन्तु निरर्थक हिंसा से बचने में ही वह कल्याण समझता था। एक दिन वह किसी यात्री का वेष बनाकर राजा समुद्रविजय की सभा में पहुंच गया। उसने खड़े होकर, सविनय अपने दोनों हाथ जोड़कर महाराज को नमन किया और कहा—

"महाराज ! अविनय हो तो उसके लिए क्षमा चाहता हूँ। अभय चाहता हूँ।"

महाराज समुद्रविजय ने सोम की ओर देखा। वह व्यक्ति अपरिचित लगा। उन्होंने कहा—

"कौन हो तुम ? अभय है। क्या कहना चाहते हो ?"

"महाराज ! मैं मागध हूँ। यात्री हूँ। इधर मथुरा-वृन्दावन की यात्रा पर निकल आया हूँ। आपसे एक प्रार्थना करना चाहता हूँ।"

"कहो, क्या बात है ?"

"महाराज ! सम्राट् जरासन्ध राजगृही से निकल चुके हैं।"

"हमें ज्ञात है। तो फिर ?"

"महाराज ! वे बहुत क्रोध में हैं।"

"वह तो उनका स्वभाव ही है। इसमें नई बात क्या हुई ?"

"प्रभु ! वे इधर ही आ रहे हैं। उन्होंने प्रण किया है कि वे समस्त यादव कुल का विनाश कर देंगे।"

यह सुनकर महाराज समुद्रविजय की भृकुटियाँ तन गयीं।

बलराम की भुजाएँ फड़क उठीं।

श्रीकृष्ण मंद-मंद मुस्कराते दीखे।

और अरिष्टनेमि शांत, निर्विकार भाव से बैठे रहे।

महाराज समुद्रविजय ने एक दृष्टि पूरी सभा पर डाली और फिर कहा—

"तुम्हारा नाम ?"

"मुझे सोमदेव कहते हैं, प्रभु !"

"अच्छा, तो सोमदेव ! अपने कान खोलकर सुन लो। यदि जरासंध हम शांतिप्रिय यादवों पर आक्रमण करने आ रहे हैं तो उनका स्वागत है। इस सभा में तुम देख रहे हो कि कौन-कौन उपस्थित है ?"

"देख रहा हूँ, महाराज ! और मैं यह भी जानता हूँ कि वासुदेव श्रीकृष्ण, बलराम जी, अरिष्टनेमि जी, महाराज वसुदेव जी, स्वयं आप तथा आपके एवं महाराज वसुदेव जी के अन्य महारथी पुत्रों कों युद्ध में परास्त करना कोई हँसी-ठट्ठा नहीं है।"

"तो फिर सोमदेव तुम क्या कहने के लिए यहाँ आये हो ?"

"महाराज ! मैं अभय की भिक्षा माँग चुका हूँ....।"

"वह तुम्हें दी जा चुकी है।"

"महाराज ! यह मेरी अनधिकार चेष्टा ही है। किंतु मेरा एक प्रस्ताव है।"

"कह डालो। शीघ्र।"

"महाराज ! सम्राट जरासंध का वास्तविक क्रोध श्रीकृष्ण एवं बलरामजी पर ही है। अत. यदि आप इन दोनों को उनके सुपुर्द कर दें तो सम्भव है कि उनका क्रोध शांत हो जाय....।"

इतना सुनते ही महाराज समुद्रविजय की सागर-गर्जन जैसी आवाज गूँजी—

"सोमदेव ! तुम पागल तो नहीं हो ? मैं अभयदान दे चुका हूँ इसलिए तुम्हारी यह बात सुन ली। वरना....।"

"महाराज ! मेरी हैसियत ही क्या है ? आपका एक सामान्य सैनिक भी इसी क्षण मेरी गर्दन उड़ा सकता है। किंतु महाराज, मेरे मन में विचार आया था कि किसी प्रकार यह युद्ध न होता। किसी प्रकार हिंसा का महाभीषण ताण्डव रुक जाता।"

"सोमदेव ! निरर्थक हिंसा में हमें भी कोई रुचि नहीं है। हम भी अहिंसा के पुजारी हैं। किंतु अन्याय और अधर्म के विनाश के लिये यदि तलवार उठानी पड़े तो उसे उठाना और उसका उपयोग करना भी हम यादवों को आता है।"

"प्रभु ! अपराध क्षमा हो....।"

"अब तुम जा सकते हो। तुम मागध हो। अपने जरासन्ध को जानते ही हो। जाओ, कह देना उनसे कि अभी तो एक कंस को ही शिक्षा दी गई है। किंतु यदि और भी कोई मदांध व्यक्ति इसी प्रकार अत्याचार और

अधर्म के मार्ग पर चला तो उसे भी कंस के मार्ग पर ही भेज दिया जायगा।"

"महाराज ! अनर्थ हो जायेगा"....।

"अब तुम जा सकते हो, सोमदेव !"—महाराज समुद्रविजय ने निर्णय के स्वर में कहा। उस स्वर में दृढ़ता भी थी। उस स्वर में वह आत्मविश्वास भी था जो प्रत्येक उस व्यक्ति में होता है जिसे अपनी नैतिकता पर आस्था होती है।

सोमदेव अब क्या कर सकता था ? वह प्रयत्न ही कर सकता था सो कर चुका। उसे लगा कि अब यह युद्ध अवश्यम्भावी है। और इस युद्ध का अर्थ होगा—महाविनाश।

चुपचाप सोमदेव ने विनम्र होकर महाराज समुद्रविजय को नमन किया और उल्टे पैरों सभाभवन से बाहर आ गया।

\+ \+ \+

सोमदेव के जाने के बाद उस सभाभवन में शांति अधिक देर नहीं रही। महाराज समुद्रविजय ने कहा—

"तो सम्राट् जरासन्ध पधार ही रहे हैं। अवश्य यह आग जीवयशा ने ही लगाई होगी।"

जैसे कोई सिंह उछलकर खड़ा हो जाय उसी प्रकार बलराम खड़े हो गए और गरज उठे—

"उस दुष्ट कंस को तो कृष्ण ने ठिकाने लगा दिया। अब मेरी बारी है।"

महाराज समुद्रविजय और वसुदेव के अन्य पुत्र भी एक के बाद एक कहने लगे—

"यहाँ किसी ने हाथों में चूड़ियाँ नहीं पहन रखी हैं।"

"हम ईंट का जवाब पत्थर से देना जानते हैं।"

"हम हरिवंशी हैं। हमने कभी किसी आक्रमणकारी के आगे घुटने नहीं टेके।"

"महाराज जरासन्ध को अपनी सेना और अपने बल पर बहुत घमण्ड हो गया है। इस घमण्ड को अब तोड़ ही देना चाहिए।'

"हम सब तैयार हैं। अब लोहे से लोहा बज ही जाने दीजिए, पिताजी !'

इसी प्रकार के उत्साह भरे वचन उस सभा में उपस्थित सभी यादव वीरों ने कहे। किन्तु महाराज समुद्रविजय कुछ गम्भीर दिखाई दे रहे थे। श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि ने अब तक एक शब्द भी नहीं बोला था। उन्होंने कृष्ण की ओर दृष्टि-निक्षेप किया और कहा—

'क्यों कृष्ण ! तुमने कुछ कहा नहीं ?'

मन्द-मन्द मुस्कराते हुए श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—

"मैं क्या कहूँ, महाराज ! मेरे भाइयों ने बहुत कुछ कह दिया है। मैं तो कर्म में ही विश्वास करता हूँ।"

श्रीकृष्ण के इस संक्षिप्त उत्तर पर महाराज समुद्रविजय ने कुछ पल तक विचार किया और फिर वे अरिष्टनेमि को सम्बोधित करते हुए बोले--

"क्यों अरिष्टनेमि, तुम भी मौन हो। तुम्हारा क्या विचार है ?"

अरिष्टनेमि की आयु अभी अधिक नहीं थी। उन्हें बालक ही माना जा सकता था। किन्तु उनके विवेक, गाम्भीर्य और निर्णय शक्ति पर सभी को बहुत विश्वास हो चला था। उन्होंने धीर-गम्भीर स्वर में कहा—

"पिताजी ! यह जो सोमदेव अभी गया है। उसने एक बत तो ठीक ही कही थी कि हिंसा से यथासम्भव बचा जाना चाहिए।"

"किन्तु कैसे ?"—बलराम फिर भड़क उठे—"वह जरासन्ध अपना सैन्य लेकर हम पर टूट पड़े और हम भेड़-बकरियों की भाँति मिमियाते रहें ? अहिंसा-अहिंसा की गुहार लगाते रहें ?"

"नहीं भैया ! मैंने ऐसा तो नहीं कहा," अरिष्टनेमि मधुरता के साथ बोले—"मैंने यही कहा है कि सम्भव हो तो हिंसा से बचना चाहिए।"

"किन्तु कैसे·····कैसे·····कैसे ?"—बलराम ने उसी उत्तेजना के साथ पूछा।

अब श्रीकृष्ण को बीच में पड़ना पड़ा। उन्हें अरिष्टनेमि की बात में सार दिखाई दे रहा था। अचानक उनके मस्तिष्क में एक विचार कौंध गया। उन्होंने कहा—

"भैया बलदाऊ ! जब युद्ध सिर पर आ ही पड़ेगा तो हम दोनों जी भरकर युद्ध करेंगे। देखना आप आगे-आगे और मैं पीछे-पीछे। किन्तु मुझे भी लगता है कि अभी हम इस युद्ध को टाल सकते हैं·····।"

"तो चलो जरासन्ध की सेवा में—मैं आगे-आगे और तुम पीछे-पीछे।"—बलराम चिढ़े हुए थे।

"नहीं भैया ! ऐसा भी नहीं·····।"

"ऐसे भी नहीं और वैसे भी नहीं। तो फिर कैसे ?"

"वह ऐसे भैया, कि जरासन्ध को थोड़ा चकमा ही दें तो कैसा रहे ?"

"चकमा ! मैं चकमा-वकमा देना नहीं जानता कृष्ण ! वह तुम्हारा काम है। तुम जानो·····।"

महाराज समुद्रविजय ने देखा कि ये दोनों भाई यदि अपनी बचपन की आदत के अनुसार आपस में उलझे तो उलझे ही रहेंगे। अतः वे बीच में ही बोले—

"कृष्ण ! तुम क्या कहना चाहते हो ? क्या किसी प्रकार यह युद्ध टाला जा सकता है और जरासन्ध को मूर्ख बनाया जा सकता है ?"

"एक मार्ग है तो सही, महाराज !"

"कौन सा मार्ग ?"

"पश्चिम दिशा का।"

श्रीकृष्ण के इस उत्तर को सुनकर महाराज समुद्रविजय सहित सभा में उपस्थित सभी लोग विचार में पड़े रह गए कि कृष्ण कह क्या रहे हैं ? किसी को कोई बात समझ में आई नहीं।

किन्तु राज ज्योतिषी कौष्टु कि सहसा अपने आसन से उछल पड़े।

वस्तुतः वे उसी समय से अपने गणना-संसार में खोए हुए थे जब से सोमदेव इस सभा में आया था। सभा में कही जाने वाली बातों को वे सुन रहे थे और नहीं भी सुन रहे थे। उनकी दोनों हाथों की अँगुलियाँ अविराम रूप से ग्रह-नक्षत्रों और काल की गणना की मुद्रा में चलायमान थीं।

अब, श्रीकृष्ण का कथन सुनकर जैसे उन्हें सहसा समाधान का सूत्र हाथ लग गया और वे प्रसन्न-प्रसन्न दिखाई दिये। दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने महाराज समुद्रविजय से कहा—

"मिल गया महाराज ! मार्ग मिल गया····।"

"पश्चिम दिशा का ?"—बलराम ने व्यंगपूर्वक कहा।

"हाँ, महाराज ! पश्चिम दिशा का ही।"—ज्योतिषी ने बड़े आश्वस्त भाव से कहा।

"हम कुछ समझे नहीं। यह पश्चिम दिशा—पश्चिम दिशा का क्या चक्र आपने और कृष्ण ने चलाया है ?"—महाराज समुद्रविजय ने कुछ खीझते हुए से कहा। ज्योतिषी ने उत्तर दिया—

"महाराज ! उस तीन खण्ड के स्वामी, अहंकारी जरासन्ध का काल आ रहा है, किन्तु अभी आया नहीं है। अभी कुछ समय शेष है। मैं निश्चय पूर्वक कहता हूँ कि ये महाबलशाली बलराम और कृष्ण ही जरासन्ध के पाप का भार इस भूतल से हटाएँगे, उसका अन्त करेंगे, किन्तु वह समय अभी आया नहीं है। आ रहा है।"

"अच्छा यह तो ठीक, किन्तु यह पश्चिम दिशा का चक्र फिर क्या है ?"

"प्रभु ! मेरी गणना कहती है कि इस समय आपको अपने समस्त यादव कुल सहित यहाँ से पश्चिम दिशा की ओर समुद्र तट तक चले जाना चाहिये....."

"क्या कहा आपने ? हमें जरासन्ध से भयभीत होकर भाग जाना चाहिए ?"—बलराम फिर क्रोधित होकर गरज उठे।

"नहीं-नहीं, राम जी ! मैं भागने की बात नहीं कह रहा हूँ। मैं तो यादव कुल के हितचिन्तन की दृष्टि से नीति की बात कह रहा हूँ। इस समय आप सभी के लिए और भरतक्षेत्र के कल्याण के लिए यही श्रेष्ठ मार्ग है। महाराज ! यह तो आप जानते ही हैं कि प्रत्येक बात का एक निश्चित समय होता है। जो होनहार है उसे कोई टाल नहीं सकता। स्वयं काल भी। अतः मेरी प्रार्थना स्वीकार हो। आप अपने समस्त बन्धु-बांधवों, इष्टजन तथा यादव प्रजा सहित इस समय यथाशीघ्र यहाँ से पश्चिम दिशा में प्रस्थान कर जाएँ। चलते-चलते जिस स्थान पर सत्यभामा दो पुत्ररत्नों को जन्म दे, उसी स्थान पर ठहरकर आप अपना नया नगर बसाएं। ऐसा करने से आप सभी का कल्याण होगा तथा आपके यहाँ से प्रस्थान करते ही शत्रुओं का विनाश होना आरम्भ हो जायगा।"

इतना कहकर कौष्टुकि ज्योतिषी नम्रतापूर्वक अपने आसन पर बैठ गया।

ज्योतिषी के इस भविष्य-कथन तथा सम्मति के बाद महाराज समुद्र-विजय की सभा में कुछ देर तक मौन छाया रहा।

केवल श्रीकृष्ण की मन्द मुस्कान उस मौन में किसी अश्रुत संगीत-ध्वनि के समान मुखर होती रही।

और, अरिष्टनेमि के शान्त मुखमण्डल से फूटती हुई शीतलता किसी स्वर्गीय सुमन के सौरभ की भाँति उस सभाभवन में फैलती रही।

अन्ततः, थोड़े विचार-विमर्श के बाद निर्णय ले लिया गया।

बलराम सभी के समझाने-बुझाने से शान्त हो गए और उन्होंने कृष्ण तथा राज ज्योतिषी के कथन को स्वीकार कर लिया। फिर भी वे इतना कहे बिना तो नहीं रह सके कि—

"कृष्ण! तू हमेशा कोई न कोई चक्र चलाता ही रहता है। तेरे गुन्ताड़े मेरी समझ में कभी नहीं आते। कुछ न कुछ गोलमाल तू करता ही रहता है। फिर भी जाने क्या बात है कि मुझे तेरी ही बात माननी पड़ती है।"

बलराम के इस प्रेम-कथन के साथ ही कृष्ण सहित उनके अन्य सभी भाई हँस पड़े और सभा समाप्त हुई।

दूसरे ही दिन, प्रभात-वेला में महाराज समुद्रविजय तथा महाराज उग्रसेन सभी बन्धु-बान्धवों सहित मथुरा से शौरिपुर, और शौरिपुर से समस्त यादव प्रजा, ग्यारह कोटि यादवों के साथ पश्चिम दिशा में समुद्र-किनारे की ओर चल पड़े।

× × ×

जरासन्ध जब मथुरा पहुँचा तो वहाँ कोई नहीं था। शून्य था। उसके गुप्तचरों ने उसे बताया कि समस्त यादव यह प्रदेश छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गए हैं। दिशा उन्होंने पश्चिम की पकड़ी थी। यह सूचना पाकर जरासन्ध उलझन में पड़ गया कि अब वह क्या करे? यादवों की खोज कैसे करे? कहाँ-कहाँ करे?

अपने पिता को चिन्तित देखकर उसके प्रतापी पुत्र कालकुमार ने कहा—

"पिताजी! आप चिन्ता न करें। मैं समस्त भरतक्षेत्र का चप्पा-

चप्पा खोज डालूँगा और उन भगोड़े यादवों को ढूंढ़ निकालूँगा। वे कहीं भी क्यों न जा छिपें, मैं उन्हें छोड़ूंगा नहीं। समुद्र अथवा अग्नि, जहाँ भी वे होंगे वहीं से उन्हें खोजकर काल का ग्रास बनाऊँगा। यह मेरी प्रतिज्ञा है। यदि मैं अपनी इस प्रतिज्ञा को पूर्ण न कर पाया तो स्वयं अग्नि में प्रवेश कर अपना प्राणान्त कर दूंगा तथा आपको कभी मुंह भी नहीं दिखाऊंगा।"

कालकुमार वीर था। धुन का धनी था। अतः जरासन्ध ने विश्वास कर लिया कि वह अवश्य ही यादवों को समाप्त करके ही लौटेगा। उसने अपने पुत्र को आज्ञा दे दी और एक विशाल सेना उसे सौंपकर वह स्वयं राजगृही लौट आया।

अब कालकुमार यादवों के खोज ढूंढ़ता हुआ उनके पीछे पड़ गया। आगे-आगे यादव तेजी से पश्चिम दिशा में चले जा रहे थे और कालकुमार उनका पीछा कर रहा था।

विन्ध्याचल पर्वत की घाटियों में जब यादव कुल पहुँचा तब तक कालकुमार उनके काफी समीप आ चुका था। यह देखकर कृष्ण और बलराम के अधिष्ठायक देवताओं ने उनकी सहायता करने का निश्चय किया।

उन देवताओं ने अपनी माया रची।

जिस मार्ग से कालकुमार अपने भाई यवन सहदेव तथा सैन्य के साथ आगे बढ़ रहा था उस मार्ग पर एक विशाल वन में उन देवताओं ने दावाग्नि प्रज्वलित कर दी। सारा जंगल धू-धू कर उठा। अग्नि की विशाल उत्तुंग लपटें आकाश छूने लगीं। इसके अतिरिक्त उन देवताओं ने उस वन में एक विशाल चिता तैयार कर दी और अपनी माया से एक स्त्री को वहाँ बिठा दिया।

वह स्त्री अपने बाल बिखेरे, धूलि-धूसरित अवस्था में अत्यन्त करुण विलाप करने लगी।

बढ़ते-बढ़ते, यादवों का पीछा करते-करते, कालकुमार अपने दल सहित उसी स्थान पर आ पहुँचा। उसने वह सारा दृश्य देखा—दावाग्नि से जलता हुआ वन, विशाल चिता, रोती-विलाप करती वह स्त्री।

उसने उस स्त्री से पूछा—

"तुम कौन हो भद्रे ? इस प्रकार विलाप क्यों कर रही हो ?"

उस मायाविनी से रोते-रोते ही उत्तर दिया—

"मेरा सर्वनाश हो गया, हे वीर ! इस वन में प्रज्वलित इस भीषण दावानल को आप देख रहे हैं। इस महा भयंकर दावाग्नि में मेरे भाई कृष्ण और बलराम अपने समस्त यादव-कुल सहित फंस गए। उन्हें इससे बचकर बाहर निकलने का कोई मार्ग नहीं सूझा।

"और यदि वे किसी प्रकार इस दावाग्नि से बच भी निकलते तो हे भद्र ! वे महाप्रतापी कालकुमार से कैसे बच सकते थे ? उन्हें ज्ञात हो गया था कि वह महावीर प्रतिज्ञा करके आ रहा है कि वह समस्त यादव कुल का विनाश करके ही लौटेगा, अन्यथा अपना प्राणान्त कर देगा। वे जानते थे कि महावीर कालकुमार कभी अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नहीं हो सकता।

"अतः साक्षात् काल सदृश्य कालकुमार से भयभीत होकर बलराम और कृष्ण ने कालकुमार के हाथों मारे जाने की अपेक्षा यही ठीक समझा कि वे अपने समस्त कुल सहित अग्नि में प्रवेश कर जायँ।

"हे भद्र ! इस प्रकार आप यह जो अति विशाल चिता देख रहे हैं, उसी में बलराम कृष्ण सहित समस्त यादव कुल प्रविष्ट होकर जाने कहाँ चला गया है ? मैं कृष्ण की बहन हूँ और इसी कारण विलाप कर रही हूँ। किन्तु, आप कोई महावीर, महारथी प्रतीत होते हैं। आप कौन हैं, हे भद्र ?"

"मैं उन कायर, भगोड़े यादवों का काल, कालकुमार ही हूँ। और मैं देखता हूँ कि वे कायर मुझसे कहाँ तक बचते हैं। मैंने उन्हें समुद्र अथवा अग्नि—कहीं से भी खोज निकालकर समाप्त करने की प्रतिज्ञा की है और मैं इस प्रतिज्ञा का पालन करूंगा....।"

इतना कहकर कालकुमार ने आव देखा न ताव, अपनी तलवार खींचकर वह उस भयानक चिता में कूद पड़ा और यादवों को खोजने चल दिया।

कौन जाने उसे यादवकुल फिर कहीं मिला अथवा नहीं, किन्तु इतिहास बताता है कि वह लौटकर कहीं दिखाई तो नहीं दिया।

सत्य यह है कि वह मूर्ख महारथी उस चिता में जलकर भस्म हो गया।

कालकुमार के भाई यवन सहदेव ने सायंकाल तक अपने वीर भाई के लौट आने की प्रतीक्षा की। किन्तु जब अन्धकार घिरने लगा तब उसने सोचा कि भैया अकेले हैं, यादव कोटि-कोटि हैं, अतः उन्हें यमलोक पहुँचाने में भैया को कुछ समय तो लग ही सकता है। यह विचार कर उसने अपनी सेना को वहीं पड़ाव डालने का आदेश दिया।

मागधी सेना के शिविर लग गए। खा-पीकर सब सैनिक अपने परम प्रतापी महावीर सेनापति कालकुमार के यादवों का विनाश करके लौट आने के सपने देखने लगे।

उनके स्वप्न स्वप्न ही रह गए।

प्रातःकाल होने पर जब यवन सहदेव जागा और उसने अपनी आँखें मलकर देखा तो वह क्या देखता है कि वहाँ न कोई दावाग्नि है, न कोई चिता, न कोई स्त्री—केवल एक मुट्ठी राख मात्र वहाँ पड़ी है।

वह मुट्ठी भर राख कालकुमार की थी।

यह देखकर यवन सहदेव हाहाकार कर उठा। उसकी समझ में आ गया कि उसके भैया कालकुमार काल के ग्रास बन चुके हैं।

देवों की माया—दैव-लीला विचित्र ही होती है।

रोते-धोते, हाहाकार मचाते, हताश-टूटे कदमों से यवन सहदेव किसी प्रकार राजगृही तक पहुँचा।

जरासन्ध ने जब सारी घटना को जाना तब उसके पाँवों तले से जमीन खिसक गई। अपने महारथी, महावीर पुत्र की मृत्यु के शोक के आवेग में वह एक बार तो मूर्च्छित ही हो गया।

किन्तु जब उसे होश आया तब उसके क्रोध का कोई ठिकाना न रहा। साक्षात् काल भैरव का रूप धारण करते हुए उसने भयंकर गर्जना की—"आक्रमण !"

[६]

काल के प्रतिरूप कालकुमार के काल-कवलित होने के समाचार से यादवों को बहुत सन्तोष हुआ। उन्होंने ज्योतिषी कौष्ट्रुकि का पर्याप्त सम्मान और पूजन किया।

उसी समय विहार करते हुए एक मुनिराज उधर आ निकले। महाराज समुद्रविजय ने समस्त कुल सहित उनको सादर वन्दन करने के उपरान्त उनसे प्रश्न किया—

"भगवन्! यह जरासन्ध हमारे पीछे हाथ धोकर पड़ा है। हम हिंसा से जितना भी बचना चाहते हैं, वह उतने ही उपद्रव खड़े करता जाता है। हम भयभीत नहीं हैं। किन्तु जानना चाहते हैं कि हमारी इस उलझन का अन्त कब और किस प्रकार आएगा? आप त्रिकालज्ञानी हैं। कृपया बताइये।"

मुनि ने शान्त भाव से उत्तर दिया—

"राजन्! भय का कोई कारण ही उपस्थित नहीं होता। जहाँ कृष्ण, बलराम और स्वयं भावी बाईसवें तीर्थंकर ये प्रभु अरिष्टनेमि उपस्थित हों वहाँ तो सदा-सर्वदा अभय ही अभय है।

"किन्तु राजन्, भावी प्रबल है। जरासन्ध अपनी मृत्यु की ओर बढ़ रहा है। कृष्ण और बलराम इस अहंकारी का वध करेंगे और ये प्रभु, ये बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि त्रिजगत का उद्धार करेंगे। आप लोग यहाँ से जाकर द्वारिकापुरी में जरासन्ध-वध के उपरान्त सुखपूर्वक रहेंगे। जो भविष्य है उसका ही कथन मैंने किया है। मैं इन बाल-प्रभु, तीर्थंकर अरिष्टनेमि को अभी से कोटि-कोटि नमन करता हूँ।"

ज्ञानी मुनिराज के ये वचन सुनकर महाराज समुद्रविजय को प्रसन्नता हुई।

मुनिराज आगे बढ़ गए।

यादव भी आगे चले।

सौराष्ट्र देश में पहुंचने पर अत्यन्त रमणीय और पवित्र गिरनार पर्वत के उत्तर-पश्चिम में उन्होंने अपना शिविर डाला। उसी स्थान पर कृष्ण की पत्नी सत्यभामा ने दो सुन्दर पुत्र-रत्नों को जन्म दिया। उनके नाम भानु और भामर रखे गए।

ज्योतिषी क्रौष्टुकि के कथनानुसार यादवों को अपना स्थायी निवास उसी स्थान पर बनाना था। श्रीकृष्ण ने पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में स्नान-ध्यानादि किया, अट्ठम तप किया और सागर-पूजन भी किया।

कृष्ण की इस पूजा और तप से प्रसन्न होकर तीसरे दिन लवण-समुद्र का अधिष्ठायक देवता सुस्थित उपस्थित हुआ। उसने कृष्ण को पांचजन्य शंख, तथा बलराम को सुघोष नामक शंख एवं दिव्य रत्न, माला, वस्त्र आदि भेंट किए। फिर उसने श्रीकृष्ण से कहा—

"हे केशव! हे वासुदेव! मैं इस लवण-समुद्र का अधिष्ठाता, सुस्थित नामक देव हूँ। आपने मुझे याद किया है। आज्ञा कीजिए, मैं आपके प्रत्येक आदेश के पालन हेतु प्रस्तुत हूँ।"

श्रीकृष्ण ने उस देव से कहा—

"प्राचीन काल में इस स्थान पर वासुदेवों की द्वारिका नामक विशाल और समृद्ध नगरी थी। वह अब समुद्र में विलीन हो गई है। हम उसी नगरी में निवास करना चाहते हैं। आप उस नगरी को समुद्र के गर्भ से निकाल दीजिए।'

"तथास्तु। आज्ञा शिरोधार्य है।"—कहकर सुस्थित देव अदृश्य हो गया।

वह देव तत्क्षण सौधर्मेन्द्र के पास गया और उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत कराया। सौधर्मेन्द्र ने कुबेर को आज्ञा दी—

"यादवों की इच्छानुसार तुम उस स्थान पर सुन्दर द्वारिका नगरी का निर्माण अति शीघ्र कर दो। और, स्मरण रहे उस नगरी में स्वयं भगवान अरिष्टनेमि निवास करेंगे। श्रीकृष्ण, बलराम तथा अन्यान्य अनेक राजादिक तो हैं ही। अतः वह नगरी अति सुन्दर हो।"

"जो आज्ञा, ऐसा ही होगा। मैं एक ही दिन और रात्रि में एक सुन्दर नगरी का निर्माण किए देता हूँ। वह नगरी इतनी शोभामय, समृद्ध तथा विशाल होगी कि उसकी तुलना में भूतल पर कोई अन्य नगरी नहीं होगी।"—कुबेर ने उत्तर दिया।

"बहुत ठीक। हाँ, केवल भूतल पर ही वह अद्वितीय हो ऐसा ही नहीं है। यदि वह नगरी हमारी इस इन्द्रपुरी से भी अधिक सुन्दर बन गई तब हमें और भी अधिक प्रसन्नता होगी।"

कुबेर ने सौधर्मेन्द्र की आज्ञा स्वीकार की और अपने काम में लग गए।

देवताओं की कथनी और करनी में अन्तर नहीं होता। एक ही दिन और रात्रि में कुबेर ने उस स्थान पर बारह योजन लम्बी और नव योजन चौड़ी एक अद्भुत रत्नमयी नगरी का निर्माण कर दिया। उसके चारों ओर सुरक्षा की दृष्टि से खाई और किले का निर्माण किया। एक से लेकर सात-सात खण्डों तक के अनेक भव्य महल पृथक-पृथक राजाओं के लिए उसमें बनाये गये थे। हजारों धर्मस्थानकों से उस नगरी की शोभा अपूर्व हो गई थी।

महाराज समुद्रविजय के लिए नगर के अग्निकोण में स्वस्तिक नामक महल बनाया गया था। अक्षोभ्य एवं स्तिमित के लिए नन्दावर्त तथा गिरि-कूट, सागर के लिए अष्टांश, हिमवान तथा अचल के लिए वर्धमान, धरण के लिए पुष्पपत्र, पूरण के लिए आलोक दर्शन, अभिचन्द्र के लिए विमुक्त, ईषानकोण में वसुदेव के लिए कुबेरछन्द तथा इसी प्रकार राजा उग्रसेन आदि के लिए भी सुन्दर महल बना दिये थे।

इन सभी महलों के मध्य में बलराम और श्रीकृष्ण के लिए सर्वतो-भद्र नामक अठारह खण्डों का एक भव्य महल भी कुबेर ने बना दिया।

इन गगनचुम्बी महलों के अतिरिक्त उस नगरी में सैकड़ों हरे-भरे उद्यान, कूप एवं वापिकाओं की भी एक लड़ी-सी पिरो दी गई थी जिससे नगरी की शोभा अवर्णनीय हो गई थी।

नगरी के पूर्व में गिरनार, दक्षिण में माल्यवान्, पश्चिम में सौमनस और उत्तर में गन्धमादन पर्वत थे। उन पर्वतों की अवस्थिति से वह नगरी शीतल और शोभामयी तो बनी ही, साथ ही अजेय भी हो गई थी।

वास्तव में सौधर्मेन्द्र के संकेतों को कुबेर ने ठीक ही से समझा था। वह नगरी जब पूर्णरूपेण बनकर तैयार हो गई तो वह भूतल पर दूसरी अमरावती के सदृश्य ही जगमगा उठी थी।

विदा लेने से पूर्व, प्रभात की पुण्य वेला में, कुबेर ने श्रीकृष्ण को दो दिव्य पीताम्बर, नक्षत्र माला, मुकुट, कौस्तुभ मणि, शार्ङ्ग नामक दिव्य धनुष, अक्षय बाणों वाले दो तूणीर, नन्दक नामक खड्ग, कौमोदिकी नामक गदा और गरुड़ध्वज नामक रथ भेंट किया।

इसी प्रकार उसने बलराम को वनमाला नामक एक आभरण, हल, मूसल नामक दो आयुध, दो दिव्य वस्त्र, दो अक्षय तूणीर एवं धनुष तथा तालध्वज नामक एक रथ प्रदान किया।

श्रीकृष्ण एवं बलराम के पूज्य सभी राजाओं को भी कुबेर ने यथोचित वस्तुएँ सादर भेंट कीं।

और अन्त में अरिष्टनेमि को वन्दन कर कुबेरराज स्वस्थान को चले गये। उन्हें देने के लिए उसके पास कुछ नहीं था।

ठीक ही तो है, त्रिभुवन के स्वामी के समक्ष कुबेर भी कंगाल ही सिद्ध हो तो आश्चर्य क्या?

नगरी के निर्माण और कुबेरराज के प्रस्थान के पश्चात् समस्त यादवों ने पश्चिम समुद्र के तट पर श्रीकृष्ण का राज्याभिषेक बड़े उल्लासपूर्वक किया और नगर-प्रवेश के शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करने लगे।

वह शुभ मुहूर्त आने पर कृष्ण और बलराम रथारूढ़ हुए। अन्य राजागण भी अपने-अपने वाहनों पर सवार हुए और गगनभेदी जयघोष एवं पवित्र मन्त्रोच्चारों के साथ नगर प्रवेश की विधि सम्पन्न की गई।

शुभ अवसर था, मंगल वेला थी।

इस अवसर पर कुबेर ने पुनः साढ़े तीन दिवस पर्यन्त उस नगरी में रत्न, मणि, माणिक्य, कंचन, रजत तथा धन-धान्यादि की अटूट वर्षा की।

यादव-कुल उस नगरी में सुखपूर्वक निवास करने लगा।

\+ \+ \+

शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा की कलाएं जिस प्रकार एक-एक कर बढ़ती है और चन्द्रमा की शोभा में निरन्तर अभिवृद्धि होती रहती है, उसी प्रकार अरिष्टनेमि का सुन्दर शरीर आयु के साथ-साथ वृद्धि कर रहा था। कृष्ण

और बलराम के साथ क्रीड़ा-कौतुक में उनका समय द्वारिकापुरी में बड़े आनन्दपूर्वक व्यतीत होता चला जा रहा था। कृष्ण-बलराम से वे आयु में छोटे ही थे, किन्तु चाहे क्रीड़ा हो अथवा अस्त्र-संचालन, अध्ययन का विषय हो या आचरण का, प्रत्येक बात में अरिष्टनेमि की निपुणता, कुशलता एवं नैसर्गिक गांभीर्य को देखकर सभी चकित रह जाते थे।

धीरे-धीरे अरिष्टनेमि की शरीर-यष्टि दस धनुष तक पहुँच गई और उन्होंने यौवनावस्था में पदार्पण किया।

किन्तु जैसा कि प्रायः नवयुवकों में स्वाभाविक रूप से देखा जाता है, वह किसी भी प्रकार का उच्छृंखल भाव अथवा कोई भी मनोविकार अरिष्टनेमि को स्पर्श तक नहीं कर सका था। सहज, निर्विकार भाव से उनकी दिनचर्या चलती रहती थी। महाराज समुद्रविजय, महारानी शिवादेवी, कृष्ण-बलराम तथा अन्य बन्धु-बान्धव उन्हें विवाह करने की प्रेरणा देते रहते थे, किन्तु वे इस विषय को सदैव टाल दिया करते थे।

एक दिन नारद ऋषि विचरण करते हुए द्वारिका जा पहुँचे। कृष्ण के महल में पहुँचने पर कृष्ण-बलराम ने उनका यथोचित स्वागत-सत्कार किया। उसके बाद जब वे कृष्ण के अन्तःपुर में पहुंचे तब सत्यभामा दर्पण में अपना मुख देखती हुई शृंगार-रत थी। अतः उसने नारद ऋषि का स्वागत नहीं किया।

अब नारद तो नारद ठहरे। क्रुद्ध हो गए। उन्होंने निश्चय कर लिया कि सत्यभामा को अच्छी सीख देकर ही रहेंगे। इसके रूप का गर्व मिटाकर ही रहेंगे। यह निश्चय करके वे जा पहुँचे कुण्डनपुर।

कुण्डनपुर के राजा थे भीष्मक और रानी थी यशोमती। उनके पुत्र का नाम था रुक्मि और पुत्री थी रुक्मिणी। रुक्मिणी बहुत सुन्दर थी। नारद की भेंट रुक्मिणी से एकान्त में हो गई और उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया—

"अर्ध भरत के स्वामी कृष्ण तुझे पति रूप में प्राप्त हों।"

यह आशीर्वाद पाकर रुक्मिणी ने प्रश्न किया—"प्रभु! ये कृष्ण कौन हैं? कहाँ रहते हैं?"

नारद ऋषि ने पुरुषों में उत्तम कृष्ण का जो परिचय रुक्मिणी को

दिया, वह जानकर रुक्मिणी बहुत प्रसन्न हुई और उसने मन ही मन कृष्ण को ही वरण करने का मानस बना लिया।

अब नारद ऋषि पुनः द्वारिका लौटे और कृष्ण को उन्होंने रुक्मिणी के विषय में बताया। रुक्मिणी का एक चित्र जो उन्होंने कुण्डनपुर में चुपचाप बना लिया था, वह भी उन्होंने कृष्ण को दिखाया। इस प्रकार रुक्मिणी के रूप-यौवन का आकर्षक वर्णन करके उन्होंने कृष्ण से कहा—

"श्रीकृष्ण! वह कुमारी-रत्न आपके ही योग्य है। किसी अन्य के नहीं।"

नारद जी की वीणा की झंकार अब द्वारिका से कुण्डनपुर तक सुनाई देने लगी थी।

उन्होंने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया था।

कृष्ण ने शीघ्र ही अपना एक दूत कुण्डनपुर भेजा और महाराज भीष्मक से उनकी पुत्री का हाथ स्वयं के लिए मांगा। उस समय रुक्मि भी वहाँ उपस्थित था। उस अहंकारी ने दूत को उत्तर दिया—

"उस गौएँ चराने वाले काले-कलूटे ग्वाले से हमारी बहन का विवाह कितनी हास्यास्पद बात है? जाओ, कहो उस ग्वाले से कि आकाश का चाँद लेने के लिए हाथ बढ़ाना ठीक नहीं। हमारी बहन का विवाह तो राजा शिशुपाल के साथ होगा।"

दूत का कार्य तो सन्देश देना और लाना ही होता है। वह द्वारिका लौट आया और उसने जो कुछ हुआ सो कृष्ण को बता दिया। सुनकर कृष्ण मुस्कराकर रह गए।

रुक्मिणी की धात्री बहुत चतुर थी। जब उसने कृष्ण के दूत को रुक्मि के उत्तर के साथ लौटते देखा तो उसने एकान्त में रुक्मिणी से कहा—

"बेटी! जब तू छोटी थी तब एक बार एक अतिमुक्त मुनि ने मुझे बताया था कि तू कृष्ण की पटरानी बनेगी। मैंने पूछा था कि कृष्ण कौन? तो उन्होंने बताया था कि पश्चिम सागर तट पर जो द्वारिका नगरी बसाएंगे, उन्हीं को कृष्ण जानना। किन्तु आज राजसभा में आए कृष्ण के दूत को तो राजकुमार रुक्मि ने अनादरपूर्वक लौटा दिया।"

यह सुनकर रुक्मिणी ने कहा—

"माता ! भैया तो स्वभाव का क्रोधी है। उन्हें अहंकार भी बहुत है, किन्तु मुनिवर का कथन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। अतः तू चिन्ता न कर। जो होना है वह तो होकर ही रहेगा।"

चतुर धात्री जान गई कि रुक्मिणी के मन का झुकाव भी कृष्ण की ओर है। अतः उसने गुप्तरूप से कृष्ण के पास सन्देश भिजवा दिया—

"माघ शुक्ला अष्टमी को आप हमारे उद्यान में पहुंचकर रुक्मिणी को ले जाएं। अन्यथा उसका विवाह शिशुपाल के साथ हो जायगा।"

राजकुमार रुक्मि ने भी शीघ्रता दिखाई। उसने भी शिशुपाल और रुक्मिणी के विवाह का दिन निश्चित कराकर निमन्त्रण-पत्र सब स्थानों पर भिजवा दिये। शिशुपाल सदल-बल रुक्मिणी को ब्याहने कुण्डनपुर आ पहुँचा।

कृष्ण को जब वह गुप्त सन्देश मिला तो वे अविलम्ब बलराम के साथ रथारूढ़ होकर द्वारिका से चल पड़े।

निश्चित समय पर, माघ शुक्ला अष्टमी के दिन रुक्मिणी अपनी धात्री के साथ नाग-पूजन के बहाने उद्यान में आई। कृष्ण-बलराम ने उसका हरण कर लिया।

उनका रथ जब कुछ दूर निकल गया, तब धात्री ने बनावटी चीख-पुकार मचाई—

"बचाओ-बचाओ, कोई राजकुमारी का हरण करके ले जा रहा है।"

सैनिक दौड़े। राजकुमार रुक्मि को समाचार मिला। वह शिशुपाल के साथ विशाल सैन्य लेकर दौड़ा।

वह सैन्य जब कृष्ण-बलराम के रथ के कुछ समीप पहुँचा तथा बलराम ने कहा—

"कृष्ण ! तुम चलो। रथ में राजकुमारी को ले जाओ। मैं इस सैन्य को यहीं रोके लेता हूँ।"

कृष्ण तो बलराम की शक्ति को जानते थे। अतः उन्होंने इतना ही कहा—

"सावधान रहना भैया, और शीघ्र आना।"

किन्तु रुक्मिणी भयभीत हुई। उसने कहा—

"नाथ ! आप यह क्या कर रहे हैं ? आप भी अकेले, वे भी अकेले ? मेरा भाई महाबलवान है। उसके साथ इतना विशाल सैन्य है·····।"

"चिन्ता न करो, प्रिये ! भैया बलदाऊ ऐसे-ऐसे सैकड़ों महारथियों के लिए अकेले ही बहुत हैं। रहा मैं, तो देखो·····।" यह कहते हुए कृष्ण ने अपनी अंगूठी में से एक हीरा निकाला और उसे मसलकर इतनी सरलता से चूर्ण-चूर्ण कर दिया कि जैसे कोई शर्करा के बतासे को फोड़ दे। यह देखकर रुक्मिणी चकित रह गई। फौलादी हथौड़ों की चोटों से भी जो हीरा तोड़ा न जा सके उसे इस प्रकार चुटकी से चूर्ण-चूर्ण कर देने वाले अपने मन के स्वामी की अपार शक्ति का उसे ज्ञान हुआ। वह चिन्ता-मुक्त हो गई। जान गई कि ये दोनों भाई तो अनोखे ही हैं।

किन्तु उसे अपने भाई की भी चिन्ता थी। उसने कहा—

"स्वामी ! जैसा भी है, रुक्मि मेरा भाई है। मैं उसके प्राणों की भिक्षा माँगती हूँ·····।"

कृष्ण ने मुस्कुराते हुए बलराम से कहा—"भैया बलदाऊ, आपने सुना ? रुक्मि को छोड़ दीजिएगा।"

"ठीक है। बहूरानी का कहना तो मानना ही होगा। छोड़ दूँगा उसे। किन्तु अब तुम जाओ।"

कृष्ण का रथ आगे बढ़ गया।

बलराम अपना हल-मूसल सम्भालकर पर्वत की तरह अड़ गए।

रुक्मि का सैन्य आ पहुँचा। किन्तु कब पहुँचा और फिर देखते ही देखते कहाँ जा पहुँचा, यह पता ही नहीं चल पाया। बलराम ने अपने मूसलायुध से उस विशाल सैन्य का चूर्ण बना डाला। अपने सैन्य की यह दुर्दशा अकेले बलराम के हाथों देखकर रुक्मि के क्रोध का पारावार न रहा। वह कूदकर बलराम के सामने आया और कहने लगा—

"मेरे सैन्य की तो तुमने दुर्दशा कर दी, किन्तु मुझसे बचकर कहाँ जाओगे ? आओ, साहस है तो मुझसे युद्ध करो।"

एक बार तो ऐसा लगा कि बलराम अपने भयंकर मूसल के एक ही प्रहार से रुक्मि की चटनी बना डालेंगे, किन्तु उन्हें रुक्मिणी की बात याद थी। अतः उन्होंने मूसल के स्थान पर अपना धनुष-बाण सम्भाला और एक क्षुरप्र-बाण छोड़कर रुक्मि के केश मूंड लिए।

रुक्मि की हालत दयनीय हो गई।

धरती फटी नहीं, अन्यथा वह इतना लज्जित हो गया था कि धरती यदि फट गई होती तो वह उसमें समा जाना चाहता।

बलराम ने उसकी वह हालत देखकर कहा—

"रुक्मि ! अहंकार बुरी चीज है। याद रखना। तुम मेरे भाई कृष्ण की पत्नी रुक्मिणी के भाई हो, अतः मैं तुम्हें मारना नहीं चाहता। अब जा सकते हो।"

यह कहकर बलराम द्वारिका के पथ पर चल पड़े।

किन्तु रुक्मि अहंकारी होने के साथ-साथ स्वाभिमानी भी था। अहंकार तो उसका नष्ट हो चुका था, लेकिन स्वाभिमान तो शेष था। अतः वह इस प्रकार की लज्जापूर्ण पराजय के बाद अपना मुंह कुण्डनपुर में किसी को नहीं दिखा सकता था।

वह कुण्डनपुर कभी नहीं लौटा। उसी स्थान पर रहने लगा।

द्वारिका पहुँचते-पहुँचते रुक्मिणी ने कृष्ण से कहा—

"स्वामी ! आपके अनेक पत्नियाँ हैं। वे बड़े ठाठ-बाट से, अपने बड़ों का शुभाशीर्वाद पाकर, विवाह-विधि सम्पन्न होने पर ही द्वारिका आई हैं। अपने साथ बहुत रत्न-धन भी लाई होंगी। किन्तु मैं ? मैं तो अकेली, खाली हाथ आई हूँ। इसलिए मुझे आशंका है कि वे सभी मेरी बहनें मेरा अनादर करेंगी, उपहास करेंगी.....।"

"नहीं रुक्मिणी, ऐसा नहीं होगा। मेरी पत्नियों में तुम सर्वश्रेष्ठ हो और वैसा ही समादर तुम्हें प्राप्त भी होगा। निश्चिन्त रहो। मैं तुम्हें अपनी पटरानी बनाकर रखूंगा।"

कृष्ण ने इस प्रकार रुक्मिणी को आश्वस्त किया और वचन भी निभाया। उन्होंने रुक्मिणी को 'श्रीप्रासाद' नामक एक भव्य महल पृथक से प्रदान किया और दास-दासियों के अतिरिक्त किसी अन्य को उसमें प्रवेश की अनुमति नहीं दी।

रुक्मिणी के साथ उन्होंने गान्धर्व विवाह किया और रुक्मिणी सुखपूर्वक रहने लगी।

किन्तु कृष्ण की अन्य रानियों को चैन कहाँ ? वे रुक्मिणी को देखने

के लिए अधीर हो रही थीं। सत्यभामा सबसे अधिक विकल थी। नारद ऋषि की माया अपना प्रभाव दिखा रही थी।

एक दिन सत्यभामा सहित सभी रानियों ने कृष्ण से कहा—

"हम अपनी नई बहन को देखना चाहती हैं। हम भी तो देखें कि ऐसा उसमें क्या है कि आप उसका हरण करने कुण्डनपुर तक भागे चले गए ?"

कृष्ण ने उत्तर दिया—"ठीक है। जैसी तुम्हारी इच्छा। कल प्रातः काल जाकर देख आना उसे। लेकिन फिर.....।"

"फिर क्या ?"—सत्यभामा ने पूछा।

"जलना नहीं।"—कृष्ण ने शरारतपूर्वक मुस्कराते हुए कहा।

"जलें आपके शत्रु। मैं क्यों जलने लगी ? आखिर तो वह हमारी बहन ही है।

"हाँ, इतना याद रखोगी तो सुखी रहोगी।"

दूसरे दिन सुबह जल्दी ही कृष्ण की सब रानियाँ सत्यभामा को अग्रणी कर रुक्मिणी के श्रीप्रासाद की ओर चल पड़ीं।

कृष्ण तो बचपन से ही नटखट थे। उन्हें थोड़ी हँसी करने की सूझ गई थी। क्या किया उन्होंने कि श्रीप्रासाद में देवी लक्ष्मी की एक अत्यन्त मनोरम मूर्ति थी। उस मूर्ति को तो उन्होंने अपने स्थान से हटवा दिया और रुक्मिणी को कह दिया कि वह उस मूर्ति के स्थान पर बैठ जाय तथा जब अन्य रानियाँ वहाँ आएँ तब वह एकदम अपलक, स्थिर रहे।

"ऐसा क्यों ?"—रुक्मिणी ने पूछा था तो कृष्ण ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया था—"थोड़ा परिहास हो जायगा। तुम मेरा कहना मानो।"

जब सत्यभामा और अन्य रानियाँ श्रीप्रासाद में पहुँची, मुख्य द्वार में प्रविष्ट हुईं, तो उन्हें सामने ही देवी लक्ष्मी की एक अति मनोज्ञ मूर्ति दिखाई दी। सभी ने श्रद्धा सहित उसे प्रणाम किया। सत्यभामा ने तो प्रणाम करने के साथ-साथ उस मूर्ति से अपने मन की अभिलाषा पूर्ण करने की प्रार्थना भी की।

इसके बाद वे सब रानियाँ रुक्मिणी से मिलने आगे बढ़ीं। घूमते-घूमते उन्होंने सारा प्रासाद छान मारा। एक-एक कक्ष देख लिया। किन्तु

रुक्मिणी उन्हें नहीं मिली। निराश होकर, खीझकर वे कृष्ण के पास लौटीं और बोलीं—

"रुक्मिणी तो हमें कहीं मिली ही नहीं। आपने तो वचन दिया था कि आज उससे हमें मिला देंगे। ऐसे ही होते हैं आपके वचन ?"

कृष्ण शरारतपूर्वक हँसे और बोले—"मिली नहीं ? तब कहाँ चली गई ? चलो, चलो, ढूंढ़ते हैं उसे।"

यह कहकर वे उन सभी रानियों को साथ लेकर प्रासाद में गए। रुक्मिणी तब तक पूर्ववत् यथास्थान ही बैठी थी। किन्तु कृष्ण को देखकर वह उठ खड़ी हुई और उन्हें प्रणाम किया।

यह कौतुक देखकर सभी रानियाँ भौंचक्की रह गईं।

रुक्मिणी ने सुमधुर स्वर में कृष्ण से कहा—

"हे नाथ ! मुझे अपनी प्रिय बहनों का परिचय दीजिए ताकि मैं अपनी बड़ी बहन को प्रणाम कर सकूँ।

कृष्ण ने सत्यभामा की ओर संकेत करते हुए कहा—"यह है सत्यभामा, तुम्हारी बड़ी बहन।"

रुक्मिणी के हाथ प्रणाम की मुद्रा में जुड़ गये। किन्तु सत्यभामा ने कहा—

"नहीं, नहीं। अब ऐसा नहीं हो सकता। मैं तो पहले ही इन्हें प्रणाम कर चुकी हूँ। अतः अब ये मुझे प्रणाम करें, यह उचित प्रतीत नहीं होता।"

कृष्ण ने हँसते-हँसते कहा—

"एक बहन दूसरी बहन को प्रणाम करे तो इसमें कोई हानि नहीं। चलो, आज सब बहनों का आपस में मिलना तो हो ही गया।"

इस प्रकार कृष्ण के चातुर्य से रुक्मिणी स्वयमेव ही उनकी पटरानी स्वीकार कर ली गई।

इसी प्रकार समय व्यतीत हो गया और कृष्ण ने क्रमशः सात अन्य राजकुमारियों के साथ एक-एक कर विवाह किया जो उनकी पटरानियाँ हुईं वे सात पटरानियाँ थीं। जाम्बवान नामक विद्याधर राजा और उसकी रानी शिवचन्द्रा की पुत्री जाम्बवती, सिंहलद्वीप के राजा श्लक्ष्णरोम

की पुत्री श्लक्ष्मणा, सुराष्ट्र देश के राजा राष्ट्रवर्धन और रानी विजया की पुत्री सुसीमा, पीतभय नगर में राजा मेरु की पुत्री गौरी, अरिष्टपुर के राजा हिरण्याभ, जो कि वसुदेव की पत्नी रोहिणी के भाई थे और इस नाते कृष्ण-बलराम उनके भाँजे लगते थे, उनकी पुत्री पद्मावती, तथा गान्धार देश की पुष्कलावती नगरी के राजा नग्नजीत की पुत्री गान्धारी।

एक दिन अतिमुक्तक मुनि द्वारिका पधारे। कृष्ण-बलराम तथा उनकी रानियों ने मुनिवर को सादर वन्दन किया। उसके बाद रुक्मिणी ने मुनिवर से प्रश्न किया—

"पूज्य मुनिवर! मुझे पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी या नहीं?"

मुनिवर ने उसे बताया कि उसे श्रीकृष्ण के समान ही एक परम प्रतापी पुत्र की प्राप्ति होगी।

सत्यभामा ने यह सुना तो चिढ़ गई। रुक्मिणी के प्रति उसका स्पर्धा भाव कम होता ही नहीं था। उसने रुक्मिणी से कहा—"मुनिवर ने पुत्ररत्न की प्राप्ति होते की बात मेरी ओर देखकर कही थी। अतः यह पुत्र-रत्न मुझे ही होगा।"

इस प्रकार दोनों में विवाद खड़ा हो गया। विवाद के निबटारे के लिए वे कृष्ण के पास गईं। उस समय सत्यभामा का भाई दुर्योधन भी वहाँ आया हुआ था। सत्यभामा ने उससे कहा—"यदि मेरे पुत्र होगा तो मैं उसे तुम्हारा दामाद बनाऊंगी।" यह सुनकर रुक्मिणी ने भी यही बात दुर्योधन से कही। तब दुर्योधन ने स्वीकार किया—"ठीक है, तुम दोनों में से जिसके भी पुत्र होगा, उसके साथ मैं अपनी पुत्री का विवाह कर दूंगा।"

किन्तु सत्यभामा को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। रुक्मिणी के प्रति उसका स्पर्धाभाव लगभग ईर्ष्याभाव का ही रूप ले चुका था। उसने कहा—

"मुझे इतने से ही सन्तोष नहीं है। मैं चाहती हूँ कि हम दोनों में से जिसके पुत्र का विवाह पहले हो, उसके पुत्र के विवाह में दूसरी अपने केश दे दे।"

कृष्ण-बलराम को सत्यभामा का यह ईर्ष्याभाव, बहुत अखरा। उन्होंने उसे ऐसी शर्त लगाने से रोकना चाहा। किन्तु वह मानी नहीं। वह कृष्ण-बलराम और दुर्योधन को इस शर्त के साक्षी बनाकर ही मानी।

× × ×

एक रात्रि को जबकि प्रभात की बेला समीप ही थी, रुक्मिणी ने एक स्वप्न देखा। उसने देखा कि मानो वह एक धवल वृषभ पर स्थित विमान पर बैठी है। यह स्वप्न देखकर उसकी निद्रा भंग हो गई। उसी समय महा-शुक्र विमान से च्युत होकर एक महर्धिक देव उसके उदर में आया।

प्रातःकाल कृष्ण के जागने पर जब रुक्मिणी ने अपने इस स्वप्न की बात उन्हें बताई तो कृष्ण ने कहा—

"निश्चय ही उन अतिमुक्तक मुनि का कथन सत्य था। तुम्हें शीघ्र ही एक परम प्रतापी पुत्र की प्राप्ति होगी। यह शुभ स्वप्न इसी का संकेत है।"

जिस समय उन दोनों में यह बात हो रही थी, उस समय सत्यभामा की एक दासी भी वहाँ आई हुई थी। उसने यह वार्तालाप सुना और जाकर सत्यभामा को सुनाया।

सत्यभामा यह समाचार सुनकर बहुत विकल हुई। वह कृष्ण के पास आकर कहने लगी—"आज मैंने स्वप्न में ऐरावत के समान एक हाथी को देखा।"

कृष्ण तुरन्त समझ गए कि वह झूठ बोल रही है। इस झूठ का कारण रुक्मिणी के प्रति उसका ईर्ष्याभाव है। किन्तु उसे प्रसन्न करने के लिए उन्होंने कह दिया—कि वह एक अच्छे पुत्र की माता बनेगी।

सत्यभामा प्रसन्न हो गई।

विधि की लीला, कि यद्यपि सत्यभामा ने झूठ ही कहा था किन्तु फिर भी दैवयोग से वह भी उसी समय गर्भवती हो गई।

दोनों रानियों के गर्भ वृद्धि पाने लगे। किन्तु सत्यभामा का गर्भ साधारण गर्भ था, अतः उसका उदर दिन-दिन वृद्धि पाने लगा। जबकि रुक्मिणी का गर्भ उत्तम था, अतः उसका उदर जैसा था वैसा ही बना रहा।

समय आने पर रुक्मिणी ने एक अति सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। उस बालक की देहकान्ति अद्भुत थी। जैसे कि तपाया हुआ स्वर्ण हो, ऐसी उसकी शोभा और कान्ति थी। उसके जन्म लेते ही पूरा राजमन्दिर जग-मगा उठा।

उस बालक की शोभा और सौन्दर्य को देखकर कृष्ण ने उसका नाम 'प्रद्युम्न' रखा, क्योंकि उसके जन्म पर चारों दिशाएं प्रद्योतित हो उठी थीं।

सत्यभामा ने जब यह समाचार सुना तब वह बहुत निराश हो गई। किन्तु दैवयोग से उसी समय उसने भी एक बालक को जन्म दिया। उसका नाम 'भानुक' रखा गया।

प्रद्युम्न को नहला-धुलाकर कृष्ण के पास लाया गया। उसे देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। बड़े लाड़ से वे उसे बहुत देर तक खिलाते रहे। कृष्ण उस बालक को खिला रहे थे कि रुक्मिणी वहाँ आई और यह कहकर कि 'अब दीजिए, बहुत देर हो गई'—बालक को लेकर चली गई।

वस्तुतः हुआ यह था कि पूर्वजन्म के वैर के कारण धूमकेतु नामक एक देव रुक्मिणी का वेश धारण कर वहाँ आया था और कृष्ण के हाथों में से बालक को मांग ले गया था। रुक्मिणी सोच रही थी कि बालक कृष्ण के पास है और कृष्ण ने समझा कि रुक्मिणी उसे ले गई।

उधर वह देव उस बालक को लेकर वैताढ्य पर्वत पर चला गया। वहाँ भूतरमण उद्यान की टंक शिला पर बैठकर उसने विचार किया कि अब इस बालक का क्या करे? वैर तो निकालना है। छलपूर्वक इसे उठा भी लाया हूँ। अब क्या करूँ? उसने सोचा कि यदि वह उसे शिला पर पटक कर मार दे तो उसे अधिक कष्ट नहीं होगा। अतः यही ठीक रहेगा कि उसे उसी शिला पर छोड़ दिया जाय। भूख-प्यास से व्याकुल होकर वह छटपटाता-छटपटाता मरेगा तभी ठीक होगा।

यह सोचकर वह देव प्रद्युम्न को उसी शिला पर निराधार छोड़कर अपने स्थान को चला गया।

किन्तु प्रद्युम्नकुमार तो चरम शरीरी थे। निरुपक्रम आयुष्य वाले थे। उन्हें तो स्वयं इन्द्र भी मार नहीं सकते थे। तब उस देव के किए क्या होने वाला था?

उस बालक, प्रद्युम्न को बड़ा होकर बड़े-बड़े अद्भुत कार्य करने थे।

शिला पर से लुढ़क कर वह एक ऐसे स्थान पर जा गिरा जहाँ सुकोमल पत्तों की एक अच्छी शय्या-सी बनी हुई थी। उसके शरीर के एक रोम को भी कोई हानि नहीं पहुँची।

कुछ ही समय बाद कालसंवर नामक एक विद्याधर घूमते-घामते वहाँ आ पहुँचा। जब उसका विमान आकाश में उस स्थान पर पहुँचा जिसके ठीक नीचे प्रद्युम्न तृण-शय्या पर लेटा हुआ था, तब उसका विमान

आकाश में ही उसी स्थान पर एकदम स्थिर हो गया। कालसंवर सोचने लगा कि यह क्या हुआ ? मेरा विमान एकाएक रुक क्यों गया ? अवश्य ही इस स्थान पर कोई महान् आत्मा होना चाहिए।

विचार और आश्चर्य में डूबा वह भूमि पर उतरा। भूमि पर आने पर उसे वह बालक हँसता-खेलता दिखाई दिया। उसे देखकर विद्याधर का चित्त एकदम प्रसन्न हो उठा। उसने सोचा कि जिस बालक के दर्शन मात्र से उसके हृदय का समस्त अवसाद मिट गया और चित्त में आनन्द ही आनन्द व्याप्त हो गया, वह अवश्य ही कोई विशिष्ट पुरुष होना चाहिए।

ऐसा सोच-विचार कर वह विद्याधर प्रद्युम्न को लेकर अपने मेघ-कूट नामक नगर में आ गया और अपनी पत्नी कनकमाला को उसे सौंपकर बोला—

"यह बालक अवश्य ही कोई विशिष्ट पुरुष होगा। तुम इसकी देख-भाल बहुत ध्यान से करना।"

कनकमाला भी उस बालक को प्राप्त कर बहुत प्रसन्न हुई। उसने कालसंवर से कहा—

"मैं इसका लालन-पालन अपने ही बालक जैसा करूँगी। आप भी यह घोषित कर दें कि मुझे कूट गर्भ था और मैंने आज ही एक पुत्र रत्न को जन्म दिया है। कोई यह न जाने कि यह मेरा पुत्र नहीं है।"

"ठीक है, तुम्हारा विचार भी उत्तम है। अब यह हमारा ही पुत्र है।"—कालसंवर ने उत्तर दिया और तदनुसार व्यवस्था कर दी। उसकी नगरी में बड़ी धूमधाम से पुत्र जन्मोत्सव मनाया गया। संयोगवशात् उसने भी उसका नाम प्रद्युम्न ही रखा।

इधर रुक्मिणी ने सोचा कि बहुत देर हो गई, कृष्ण ने अब तक बालक को नहीं लौटाया, वह भूखा हो गया होगा। यह सोचकर वह कृष्ण के पास आई और बोली—

"लाइये मेरा बच्चा। बहुत देर लाड़ लड़ा लिया आपने। बच्चे को भूख-प्यास भी लगती है कि नहीं ? कहाँ है मेरा बच्चा ?"

यह सुनकर श्रीकृष्ण ने पहले तो सोचा कि रुक्मिणी परिहास कर रही है। किन्तु फिर जब उन्होंने उसकी गम्भीरता को देखा तो कहा—

"अरे प्रियतमे ! अभी-अभी तो तुम उसे मेरे पास से ले गई हो ? अब उसे मुझसे वापस माँगने कैसे चली आईं ?"

"मैं ले गई हूँ ? यह आप क्या कह रहे हैं ? मैं तो आपके पास आई भी नहीं और बालक को ले भी नहीं गई। परिहास न कीजिए, लाइये, दीजिए मुझे बालक। यह भी कोई हँसी का विषय है ?"

"मैं परिहास नहीं कर रहा रुक्मिणी ! मैंने तो सोचा था कि तुम ही मुझसे परिहास कर रही हो। किन्तु अब प्रतीत होता है कि हम दोनों ही छले गये हैं। यदि तुम उसे मुझसे नहीं ले गयीं तो फिर अवश्य ही तुम्हारा वेश धारण कर कोई अन्य व्यक्ति उसे मुझसे ले गया है। ठहरो, मैं अभी तलाश करता हूँ।"

यह कहकर कृष्ण आसन से उठ खड़े हुए और उन्होंने अपने अनुचरों को बालक की खोज करने की आज्ञा देकर इधर-उधर भेजा।

सारा महल छान डाला गया।

फिर सारी द्वारिका में ढूंढ़ लिया गया।

और फिर सारे साम्राज्य में खोज की गई।

किन्तु प्रद्युम्न कहीं नहीं मिला। मिलता भी कैसे ? वह कृष्ण के राज्य में तो कहीं था भी नहीं। वह तो उनके राज्य से दूर मेघकूट नगर में विद्याधर कालसंवर और रानी कनकमाला के पुत्र के रूप में पल रहा था। नाम भले ही उसका वहाँ भी प्रद्युम्न ही रखा गया था, किन्तु घोषित तो वह उन्हीं का पुत्र किया गया था। राजा-रानी के अतिरिक्त इस रहस्य को अन्य कोई जानता भी नहीं था।

जब प्रद्युम्न का कहीं पता न चला तो रुक्मिणी तो पछाड़ें खा-खाकर रोती रही। वह बहुत दुर्बल और दुःखी हो गई। बार-बार वह अपने बच्चे को याद करती और विकल होकर मूर्च्छित हो जाती। बहुत उपचार करके, अनेक प्रकार से आश्वासन प्रदान करके उसे होश में लाया जाता था और जीवित रखा जा रहा था।

कृष्ण भी बहुत चिन्तित थे। रुक्मिणी की उस हालत को देखकर उनकी चिन्ता बढ़ जाती थी। वे शीघ्र से शीघ्र किसी ऐसे उपाय की खोज में थे जिससे कि प्रद्युम्न कुमार का पता चल जाय.....

बस पता भर चल जाय कि वह कहाँ है ? फिर तो स्वयं काल की दाढ़ों में से भी वे उसे निकाल लाएँगे·····

सोचते हुए कृष्ण भी विकल थे।

सारी द्वारिका नगरी में उदासी की घटा घिरी हुई थी। कोई भी व्यक्ति प्रसन्न दिखाई नहीं देता था। किसी के होठों पर हँसी नहीं थी। किसी के हृदय में आनन्द नहीं था। केवल चिन्ता और अवसाद·····

केवल एक सत्यभामा थी जो मन ही मन में प्रसन्न थी। यद्यपि अपने मन की प्रसन्नता उसे गुप्त ही रखनी पड़ रही थी, किन्तु थी तो वह प्रसन्न। उसे रुक्मिणी से डाह जो थी।

उन्हीं दिनों नारद ऋषि का आगमन द्वारिका नगरी में हुआ। उन्होंने सारी नगरी में छाई हुई उदासी को लक्ष्य किया और शीघ्रतापूर्वक कृष्ण के महल में जा पहुँचे। वहाँ कृष्ण को भी उदास, चिन्तामग्न पाया तो पूछा—

"अरे, कृष्ण ! क्या बात है ? देखता हूँ कि यहाँ तो चारों ओर चिंता ही चिन्ता का साम्राज्य है। ऐसा क्या घटित हो गया है ?"

कृष्ण ने नारद ऋषि को सादर प्रणाम करके उन्हें उचित आसन प्रदान किया। उनके आगमन से उन्हें आशा भी बँधी। वे बोले—

"महात्मन् ! अब क्या बताऊँ आपको। रुक्मिणी के पुत्र को कोई छलपूर्वक हरण करके ले गया है। बहुत खोज की मैंने। किन्तु कुछ पता नहीं चला। अब तो आप ही उसे ढूंढ़ निकालने में समर्थ हो सकते हैं। हमारे सद्भाग्य से ही आप इस समय यहाँ आ पहुँचे हैं। कृपया उसका कुछ पता हो तो बताइये, अथवा उसकी खोज कीजिये।"

यह सुनकर नारद ऋषि अपनी शिखा को व्यवस्थित करते, विचार करते हुए धीरे-धीरे बोले—

"हे कृष्ण ! मैं उस बालक की खोज में निकलूँगा तो निश्चय ही···· किन्तु मुझे भी कुछ समय तो लग ही जायगा·····कोई ऐसी विधि हाथ लगती कि जिससे यह कार्य शीघ्र सम्पन्न हो जाता तो अच्छा था·····यहाँ पर एक अतिमुक्तक मुनि थे, वे महाज्ञानी थे, किन्तु वे तो मोक्ष के अधिकारी बन गये। अब·····अब·····

"अरे हाँ, कृष्ण, सीमन्धर स्वामी उसका पता अवश्य ही बता सकते

हैं। अच्छा, तो मैं चला।"—कहकर नारद ऋषि ने किसी उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। किसी औपचारिकता के फेर में वे इस समय नहीं पड़े और अपनी वीणा उठाकर चल पड़े।

कृष्ण शीघ्रता में इतना ही कह पाये—"प्रणाम, ऋषिवर! मैं प्रतीक्षा करूंगा·····।"

किन्तु तब तक ऋषिवर अदृश्य हो चुके थे।

वे ठहरे गगन-विहारी। उन्हें सीमन्धर स्वामी के पास पहुँचते क्या देर लगती? शीघ्र ही वहाँ पहुंचने पर उन्होंने नमस्कार कर प्रद्युम्न का पता पूछा। कहा—

"हे भगवन्! कृष्ण और रुक्मिणी सहित समस्त यादव कुल विकल है। इस समय वह बालक कहाँ है? कृपया बताइये।"

सीमन्धर स्वामी वे तत्काल बताया—

"हे ऋषिवर! देखिए, काल की और कर्मों की गति विचित्र भी है और किसी के रोके रुकती भी नहीं। पूर्वजन्म के वैर के कारण धूमकेतु नामक देव उस बालक का हरण कर ले गया था। वह उसे वैताढ्य पर्वत पर ले गया और वहाँ टंक शिला पर उसे छोड़कर चला आया। उसने सोचा था कि वह बालक वहाँ पर भूख-प्यास से तड़प-तड़प कर स्वयं ही मर जायगा।

"किन्तु हे नारद! वह बालक तो चरमशरीरी है। और आप जानते हैं कि चरमशरीरी को स्वयं इन्द्र भी नहीं मार सकते। अतः बालक को तो जीवित रहना ही था। वह सुखपूर्वक कुछ समय वहाँ तृणशय्या पर क्रीड़ा करता रहा। उसी समय कालसंवर नामक एक अन्य विद्याधर वहाँ आया। उसका विमान उस बालक के प्रताप से आकाश में स्थिर हो गया। नीचे उतरकर कालसंवर ने उस बालक को देखा और उसे अपनी नगरी में ले जाकर अपनी पत्नी को सौंप दिया।

"चिन्ता का कोई कारण नहीं है, ऋषिवर नारद! वह विद्याधर राजा और रानी उस बालक का लालन-पालन अपने ही पुत्र के समान कर रहे हैं।"

यह जानकर नारद ऋषि प्रसन्न हो गए। उन्होंने सीमन्धर स्वामी को प्रणाम करते हुए कहा—

"बड़ी कृपा की भगवन् आपने मुझे यह सूचना देकर। अब मैं चलता हूँ। शीघ्र ही उस बालक को कृष्ण के पास पहुँचाना है·····।"

"काल अपनी गति से ही चलता है, ऋषिवर!"—सीमन्धर स्वामी ने शान्तिपूर्वक कहा—"किसी के भी शीघ्रता करने पर काल अपनी गति नहीं बदलता। मैंने कहा था न कि पूर्वजन्म के वैर के कारण ही धूमकेतु बालक का हरण कर ले गया था। उसी पूर्वजन्म के कर्मों के प्रभाव से रुक्मिणी को सोलह वर्षों तक अपने बालक का विरह सहन करना पड़ेगा। रुक्मिणी ने उस पूर्वजन्म में, एक मयूरी से उसके बच्चे का विरह कराया था। कर्म किया, फल भी भोगना ही पड़ेगा।"

"आपका कथन यथार्थ है, भगवन्!"—कहकर नारद ऋषि पुनः सीमन्धर स्वामी को वन्दन कर विदा हुए।

वहाँ से चलकर वे वैताढ्य पर्वत के उस मेघकूट नामक नगर में गए जहाँ विद्याधर कालसंवर रहता था। ऋषिवर के दर्शन कर स्वयं को कृतार्थ अनुभव करते हुए कालसंवर ने ऋषिवर का यथोचित अभिवादन एवं सत्कार किया तथा अपने यहाँ पुत्र जन्म का शुभ संवाद देते हुए कहा—

"ऋषिवर! हमारा अहोभाग्य कि आपका पदार्पण इस अवसर पर यहाँ हो गया। अवश्य ही यह बालक परम पुण्यवान होना चाहिए। कृपया इसे अपना आशीर्वाद प्रदान कीजिए।"

यह कहकर उसने दासियों को आज्ञा देकर बालक को मँगवाया और ऋषिवर के चरणों में रख दिया।

नारद ऋषि ने बालक को आशीर्वाद दिया और उसकी मुखाकृति देखकर वे आश्वस्त हो गए कि यह बालक रुक्मिणी का ही पुत्र है। सीमन्धर स्वामी के वचनों पर उन्हें विश्वास तो था ही। इसीलिए वे वहाँ पहुँचे थे। किन्तु फिर भी स्वयं अपनी आँखों से उस पुण्यशाली जीव को देख लेने का लोभ संवरण वे नहीं कर पाये थे।

बालक को यथायोग्य आशीर्वाद प्रदान कर, प्रसन्न भाव से वे द्वारिका की ओर चल पड़े।

द्वारिका पहुंचकर उन्होंने कृष्ण-रुक्मिणी को सारी बातें बता दीं। बालक की कुशलता का समाचार दे दिया और कहा—

"अब तुम किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करना और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करना। आर्हत वचन कभी मिथ्या नहीं होते। सोलह वर्ष पश्चात् तुम्हारा पुत्र तुम्हें मिल जायगा।"

यद्यपि विरह को सहन करना था, किन्तु फिर भी पुत्र कुशलपूर्वक है तथा सोलह वर्ष पश्चात् ही सही, वह उन्हें मिल तो जायगा ही, यह विचार कर रुक्मिणी आश्वस्त हो गई। विचारवान नारी थी। कर्म गति का ज्ञान उसे था। अतः वह प्रसन्न भी हो गई।

सीमन्धर प्रभु के प्रति रुक्मिणी के हृदय में अगाध श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उसने वहीं से उन्हें सादर वन्दन किया।

अब उसके हृदय में विकलता के स्थान पर शान्ति थी।

[७]

एक दिन एक तीर्थयात्री साँझ ढले द्वारिका में पहुंचा। वह कहीं बहुत दूर से, लम्बा प्रवास करके आया प्रतीत होता था। उसके बदन और कपड़ों पर धूलि जमी हुई थी। अन्धकार हो जाने से पूर्व ही वह कोई रैन बसेरा खोज लेना चाहता था।

इस चक्कर में वह द्वारिका के मुख्य राजमार्ग पर धीरे-धीरे आगे बढ़ता हुआ किसी अच्छी पान्थशाला का पता किसी सज्जन नागरिक से पूछ लेने की फिराक में था। उसी समय सामने से आते हुए उसे एक ब्राह्मण पण्डित मिल गया। उसने सोचा कि यह आदमी ब्राह्मण है, पण्डिताई करता प्रतीत होता है, सज्जन ही होगा। इसी से पूछना चाहिये। अतः उसने उस ब्राह्मण का मार्ग रोककर उसे नमस्कार किया और कहा—

"ब्रह्मदेव ! मैं एक परदेशी आपके नगर में आया हूँ, किसी अच्छी पान्थशाला का पता-ठिकाना बता सकेंगे ?"

"द्वारिका नगरी में परदेशियों का सदैव स्वागत होता है, बन्धु ! और अच्छी पान्थशालाओं की यहाँ क्या कमी ? कहाँ से आ रहे हैं आप ? कौन जाति के हैं ?" ब्राह्मण ने पूछा।

"बहुत दूर से, राजगृही नगरी से आया हूँ। तीर्थाटन करता-करता इधर निकल पड़ा। आपकी द्वारिका की बहुत प्रशंसा सुनी है। सोचा, देखता चलूँ।"

"ठीक सुना और ठीक सोचा आपने, बन्धु ! हमारी द्वारिका नगरी दर्शनीय ही है। और हाँ, क्या बताया आपने ? ब्राह्मण हैं आप ?"

"बताया तो नहीं, किन्तु हाँ, हूँ मैं ब्राह्मण ही।"

"अरे, तब आपको किसी पान्थशाला में ठहरने की क्या आवश्यकता ? मेरी कुटिया को ही पवित्र कीजिए। अतिथि देवता की कुछ सेवा करने का थोड़ा-सा पुण्य इस अकिंचन ब्राह्मण को भी मिल जाने दीजिए।"

"अरे नहीं-नहीं, ब्रह्मदेव, आपको क्यों कष्ट दूँ.....?"

"कोई कष्ट नहीं है। कष्ट का प्रश्न तक नहीं है। अकेला पड़ा रहता हूँ, दो दिन कोई सहधर्मी बन्धु साथ रह लेगा तो सुख ही मिलेगा। आइए, मेरे साथ ही चलिए। मेरा घर यहाँ से दूर भी नहीं है। आइये, आइए।" —ऐसा कहते हुए ब्राह्मण देवता उस आगन्तुक को अपने साथ करीब-करीब घसीट ही ले गए। आगन्तुक ने अधिक आपत्ति भी नहीं की।

ब्राह्मण देवता का नाम था सोमदेव। विधुर थे। उनकी पत्नी का देहान्त हो चुका था और सन्तान कोई नहीं थी। अकेले जीवन गुजारते कभी-कभी बहुत ऊब जाते थे। आज एक अतिथि आ गया तो बहुत प्रसन्न थे। भगवान् की कृपा से खाने-पीने की कोई कमी तो थी नहीं। बड़े प्रेम से उन्होंने आगन्तुक का स्वागत किया। उत्तम भोजन बनाकर दोनों ने पहले छककर भोजन किया और फिर आँगन में खाटें बिछाकर, बिस्तर लगाकर गप्पें हाँकना आरम्भ किया।

सोमदेव ने आराम से लेटते हुए अपने अतिथि से कहा—

"पहले पेट पूजा फिर काम दूजा। अपने ऋषि-महर्षियों ने कितनी ज्ञान की बातें कही हैं? भाई, मैं तो इस नियम का पूर्ण शास्त्रीय विधि से पालन करता हूँ।"

उनके अतिथि को शास्त्र के इस भाष्य को सुनकर हंसी आ गई। उसने कहा—

"देवता! आप ठीक ही करते हैं। आदमी अपने जीवन में इतना सारा खटराग करता ही और किसलिए है? पेट के लिए ही तो। हाँ, आपने आज भोजन भी बहुत उत्तम बनाया। आनन्द आ गया।"

"अरे मित्र! भोजन की माया तो अपरम्पार है। इस विषय में चर्चा करने के लिए तो सारी रात भी थोड़ी है। लेकिन सच कहूँ तो तृप्त होकर भोजन किए तो वर्षों बीत गए। तुम्हारी पण्डितानी थी तब होता था भोजन। अब तो बस, पेट भर लेते हैं।"

असल बात यह थी कि भोजन से पूर्व ब्राह्मण देवता ने थोड़ी विजया छान ली थी। अब यह अलग बात है कि उनकी 'थोड़ी' मात्रा कितनी होती थी। सो वे इस समय मगन हो चले थे। उन्होंने अपने अतिथि से भी 'थोड़ी'

छानने का आग्रह किया था, किन्तु वह अतिथि समझदार व्यक्ति था। उसने टाल दिया था।

अब उसने देखा कि ब्राह्मण देवता मगन हैं और बातें करने की ओर प्रवृत्त हैं तो वह अपने वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति के लिए तत्पर हो गया। उसने कहा—

"ब्राह्मण देवता! ऐसा प्रतीत होता है कि आपकी द्वारिका नगरी बहुत समृद्ध है। यहाँ कोई दुःखी नहीं है। सब सुखी हैं। अपनी नगरी की कुछ अन्य विशेषता भी तो बताइये।"

"बताऊँगा! वह भी बताऊँगा·····क्या नाम बताया तुमने अपना मित्र?"

"नाम तो आपने पूछा ही नहीं और मैंने बताया भी नहीं।"

"अरे, तो अब तो बता दो। मैंने तो तुम्हें अपना नाम कब का बता दिया। सोमदेव पंडित। बताया था न? भूल गए? कोई बात नहीं। जब भंग-भवानी की आराधना में मन केन्द्रित हो जाता है तब समस्त तुच्छ सांसारिक बातों की ओर से ध्यान हट जाता है। और ऐसा होना भी चाहिए। क्या रखा है इस संसार में? संसार असार है·····।"

"हाँ, देवता! संसार तो असार है·····।"

"किन्तु मित्रता में सार है। तुम मेरे मित्र हो। मुझे मेरे नाम से ही पुकारो। यह देवता-वेवता क्या लगा रखी है? मैं सोमदेव हूँ और तुम ·····क्या नाम बताया तुमने अपना?"

"पूरन भट्ट।"

"हाँ हाँ, मैं जरा भूल गया था। मुझे याद है तुमने बताया था, पूरन भट्ट। अच्छा नाम है। पूरन महाराज! वाह! अच्छा, तो भटराज, तुम क्या पूछ रहे थे और मैं क्या बता रहा था?"

"कुछ नहीं मित्र! मैं कह रहा था कि आपकी यह द्वारिका नगरी ·····।"

"स्वयं देवेन्द्र ने सताई है। इस नगरी के सामने उसकी अपनी अमरावती भी किसी गणना में नहीं ठहरती! ऐसा सभी कहते हैं, मित्र!"

"ऐसा ही होगा। जहाँ कृष्ण वासुदेव निवास करते हों वह नगरी तो अद्भुत होनी चाहिए।"

"हाँ, महाराज! हमारी इस अद्भुत नगरी में अलौकिक देव पुरुष निवास करते हैं। कल तुम एक चक्कर लगा आना।"

"अवश्य लगाऊँगा। इसीलिए तो आया हूँ। श्रीकृष्ण महाराज के दर्शन भी हो जाते तो जीवन धन्य हो जाता।"

"वह भी हो जायगा। श्रीकृष्ण-बलराम और भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शन करोगे तो जीवन को धन्य होना ही पड़ेगा।"

"मित्रवर! कृष्ण-बलराम के विषय में तो सारा संसार जानता है, किन्तु ये भगवान् अरिष्टनेमि.....?"

"उन्हें त्रिजगत जानेगा और मानेगा। देख लेना। इस ब्राह्मण का वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता।"

"कैसे हो सकता है आपका वचन मिथ्या? किन्तु ये हैं कौन?"

"श्रीकृष्ण के चचेरे भाई हैं। उन्हें देखोगे तो देखते ही रह जाओगे?"

"क्या वे बहुत सुन्दर हैं? बहुत बलवान हैं?"

"त्रिभुवन का समस्त सौन्दर्य उनके चरण पखारता है, बन्धु! और जहाँ तक उनके बलवान होने का प्रश्न है तो यह जान लो कि उनके समान बली न भूतो न भविष्यति।"

"तब तो मेरा द्वारिका आना सार्थक हो गया मित्र सोमदेव! ऐसे-ऐसे महापुरुषों के दर्शन हो जायेंगे।'

"इस नगरी में महापुरुषों और महारथियों की क्या कमी है भट-राज! बस देखते चले जाओ। तुमने प्रद्युम्नकुमार और शाम्बकुमार के विषय में तो सुना ही होगा?"

"नहीं मित्र, कैसे सुनता? मैं तो आज ही यहाँ आया हूँ।"

"अरे हाँ, तुम तो आज ही यहाँ आए हो। मैं भी कभी-कभी कुछ न कुछ भूल ही जाता हूँ। जानते हो ये प्रद्युम्नकुमार और शाम्बकुमार कौन हैं? नहीं जानते?"

"नहीं तो।"

"नहीं, जानते ! तो पूछते क्यों नहीं ?"

"बताइये, मित्रवर !"

"बता ही तो रहा हूँ—बेटा बाप से सवाया। यह कहावत सुनी है कभी ?"

"हाँ, सुनी तो है।"

"बस, तो समझ लो कि श्रीकृष्ण महाराज के ये दोनों पुत्र ऐसे ही हैं।"

"तो ये श्रीकृष्ण महाराज के पुत्र हैं ?"

"हाँ, और दोनों एक से बढ़कर एक प्रतापी हैं। मैं तो यही निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि इन दोनों की वीरता अतुलनीय है या विवेक। लेकिन भटराज ! यदि तुम इस प्रकार द्वारिका के नर-वीरों की गणना करने लगोगे तो शायद सारी रात बीत जाय, गणना पूर्ण नहीं होगी। इसलिए अब थोड़ी देर सो लिया जाय।"

"ठीक है मित्र सोमदेव ! सो ही लिया जाय। कल इन वीर महा-पुरुषों के दर्शन कर जीवन धन्य करूँगा।"

"धन्यवाद !"—कहकर सोमदेव पंडित करवट बदलकर सो गए और क्षण दो क्षण बाद खर्राटे लेने लगे।

उनका अतिथि सोचने लगा कि कितने भोले है ये ब्राह्मण देवता। इन्हें अपना वास्तविक परिचय न देकर मैंने इनके साथ छल किया है। किन्तु विवशता थी। अब जाते-जाते इन्हें सच-सच बात कहता जाऊँगा।

यह निश्चय करके वह कृष्ण-बलराम, प्रद्युम्न-शाम्ब और विशेषरूप से अरिष्टनेमि के विषय में चिन्तन करता-करता निद्रायमान हो गया।

× × × ×

दूसरे दिन पूरन भट्ट ने सारी द्वारिका नगरी छान मारी। उसका वास्तविक उद्देश्य ही यह था। उसने महल देखे, किले देखे तथा सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रत्येक स्थल का निरीक्षण बड़ी बारीकी से करके उनका चित्र अपने मस्तिष्क में उतार लिया।

उसने इधर-उधर लोगों से मिलकर, उन्हें बातों में लगाकर यादवों

की सैन्य-शक्ति का बहुत कुछ सही-सही अनुमान कर लिया और वह अनुमान करके वह विस्मित रह गया।

अन्त में उसे श्रीकृष्ण-बलराम और अरिष्टनेमि के दर्शन प्राप्त करने का सौभाग्य भी किसी प्रकार मिल ही गया। उन्हें देखकर उसने मन ही मन स्वयं से कहा—समरकेतु, तेरा जीवन तो इन तीनों महावीर महापुरुषों के दर्शन करके सचमुच धन्य हो गया, किन्तु तेरे स्वामी जरासन्ध का त्राण अब त्रिलोक में नहीं है, यह भी सुनिश्चित है।

घूमघाम कर वह अन्ततः सोमदेव पंडित के घर लौट आया। उसका प्रयोजन सिद्ध हो चुका था। अब वह यथाशीघ्र द्वारिका से चल पड़ना चाहता था। एक सेवक के नाते यही उसका कर्तव्य था।

अपने कमरबन्द में से एक पोटली निकालकर कुछ स्वर्ण मुद्राएं उसमें से लीं और अपने अतिथेय को उन्हें भेंट करते हुए कहा—

"मित्र सोमदेव पंडित! अब मैं जा रहा हूँ। तुम्हारे प्रेमपूर्ण आतिथ्य के लिए जीवन भर तुम्हारा ऋणी रहूँगा और तुम्हारा मित्र बना रहूँगा। अपने मित्र की ओर से यह तुच्छ भेंट स्वीकार करो.....।"

"कदापि नहीं.....असम्भवं हेममृगस्य जन्म.....!" पंडित सोमदेव कहने लगे किन्तु उनके अतिथि ने उनका कोई श्लोक नहीं सुना और बहुत आग्रहपूर्वक वे स्वर्ण मुद्राएं स्वीकार कर लेने के लिए उन्हें बाध्य कर दिया।

अन्त में उसने सच-सच बात सोमदेव पंडित को बताते हुए कहा—

"मित्र! अब हम मित्र ही हैं और सदैव मित्र ही रहेंगे। न मैं तुम्हारा अतिथि और न तुम मेरे आतिथेय। अब मैं जा रहा हूँ। तुम सावधान रहना। युद्ध आ रहा है। मैं पूरनभट्ट नहीं, महाराज जरासन्ध का एक गुप्तचर हूँ। मेरी विवशता थी कि मुझे तुम्हारे साथ कुछ समय के लिए छल करना पड़ा। किन्तु उसके लिए मैं तुमसे क्षमा-याचना करता हूँ। तुम उदार हो, तुम्हारा हृदय निष्कलुष है। मुझे क्षमा कर देना। बोलो मित्र! तुमने मुझे क्षमा कर दिया न?"

किन्तु भोला ब्राह्मण कुछ नहीं बोला। चुपचाप समरकेतु को देखता रहा।

जब काफी समय व्यतीत हो गया तब समरकेतु ने कहा—

"क्यों मित्र, रुष्ट हो ? क्षमा नहीं करोगे ?"

"तुम्हें तो मैं क्षमा करता हूँ, मित्र ! तुम गुप्तचर हो और तुमने अपने स्वामी के आदेश का पालन करने हेतु ही यह छल मेरे साथ किया। किन्तु यह याद रखना और कह देना उस जरासन्ध से कि कृष्ण-बलराम और अरिष्टनेमि की द्वारिका पर आक्रमण करके वह अपनी मृत्यु का आह्वान कर रहा है·····।"

"यह बात मैं अच्छी तरह जान गया हूँ, मित्र ! किन्तु होनी को कोई टाल नहीं सकता। मैं अपने महाराज को जानता हूँ। मैं मन्त्रिवर हंसक का भेजा हुआ यहाँ आया हूँ। वे महाराज को समझाने-बुझाने का पूरा प्रयत्न करेंगे। किन्तु फिर भी मैं जानता हूँ कि महाराज जरासन्ध मानेंगे नहीं····।'

"तो फिर भुगतने दो उन्हें·····।"

"अच्छा मित्र सोमदेव ! विलम्ब हो रहा है। दूर जाना है। चलता हूँ। आज्ञा दो। अब मुझसे रुष्ट तो नहीं हो न ? नमस्कार !"

पूरनभट्ट अर्थात् समरकेतु सोमदेव पंडित से विदा लेकर शीघ्रता-पूर्वक वहाँ से चल पड़ा।

हुआ यह था कि अपने पुत्र कालकुमार की मृत्यु का समाचार सुनने के बाद से ही जरासन्ध यादवों का समूल नाश करने के लिए पहले से भी अधिक अधीर हो रहा था। किन्तु विन्ध्याचल पर्वतों की अति सघन उपत्य-काओं में यादव लोग कहाँ अदृश्य हो गए हैं यह बात उसे समझ में नहीं आ रही थी। उसने खोज तो बहुत की थी किन्तु यादवों की स्थिति को वह फिर भी जान नहीं सका था।

यह भी हो सकता है कि उसने अन्ततः सोच लिया हो कि यादवकुल उस भीषण दावानल में सचमुच जल ही मरा हो जिसमें कि कालकुमार अपनी मृत्यु को प्राप्त हुआ था।

जो कुछ भी हुआ हो, वह अभी राजगृही में ही था और उधर यादव लोग श्रीकृष्ण की छत्रछाया में द्वारिका में सुखपूर्वक काल-यापन कर रहे थे।

अब एक दिन कुछ व्यापारी घूमते-घामते राजगृह नगरी में पहुँचे थे। उनके पास कुछ बहुमूल्य वस्तुएं थीं, जिनमें रत्न-कम्बल भी थे जो कि अति मूल्यवान थे। वे बहुमूल्य रत्न-कम्बल वे यवन द्वीप से जलमार्ग द्वारा लाए

थे। उन्हें बेचकर वे अच्छा लाभ प्राप्त करने की आशा लगाए बैठे थे।

पहले वे द्वारिका में ही उतरे थे। बहुत-सी वस्तुएँ उन्होंने वहाँ खपा दी थीं। किन्तु वे रत्न-कम्बल अभी शेष थे। द्वारिका में उन्हें उनका वह मूल्य प्राप्त नहीं हुआ जितना कि वे चाहते थे। अतः वे घूमते-फिरते अब राजगृही में जा पहुँचे थे। राजगृही में पहुँचकर उन्होंने वे रत्न-कम्बल राजकुमारी जीवयशा को दिखाए। जीवयशा ने उनका जो मूल्य आँका वह द्वारिका में आँके गए मूल्य से भी कम था। तो उन व्यापारियों ने कहा—

"राजकुमारी जी! हम लोग व्यापारी हैं। अपनी जान पर खेलकर समुद्र यात्रा करते हैं और समुचित लाभ की आशा करते हैं। आपने इन रत्न-कम्बलों का जो मूल्य लगाया है वह तो द्वारिका नगरी में लगाए गए मूल्य से भी कम है।"

राजकुमारी जीवयशा यह सुनकर चौंकी और उसने पूछा—

"यह द्वारिका नगरी कौन-सी है? कहाँ है? वहाँ कौन राज्य करता है?"

तब उन व्यापारियों ने बताया—

"राजकुमारी जी! द्वारिका नगरी पश्चिम समुद्र के तट पर बसी हुई है। बहुत विशाल, बड़ी भव्य नगरी है वह। वहाँ श्रीकृष्ण-बलराम राज्य करते हैं.....।"

बस, इतना सुनना था कि जीवयशा रोती-बिलखती अपने पिता जरासन्ध के पास जा पहुँची और बोली—

"मेरे शत्रु कृष्ण और बलराम सुखपूर्वक द्वारिका में बसे हुए हैं और आपको कुछ पता ही नहीं। मैंने प्रतिज्ञा की थी कि उनका नाश न हुआ तो मैं स्वयं ही चिता में जल मरूँगी।"

तब जरासन्ध ने उन व्यापारियों से द्वारिका के विषय में सारा हाल-चाल पूछा, वहाँ तक पहुँचने के मार्ग के बारे में पक्की जानकारी ली और अपनी सेना को सज्जित होने के आदेश प्रदान कर दिये।

युद्ध की तैयारी होने लगी थी कि मन्त्री हंसक ने अपना एक विश्वस्त गुप्तचर चुपचाप द्वारिका भेज दिया था।

उस गुप्तचर की गतिविधियों से हमारे पाठक परिचित हो चुके हैं।

वह समरकेतु था, जो पूरनभट्ट के नाम से द्वारिका हो आया था।

जरासन्ध का सैन्य युद्ध-प्रयाण करे उससे पूर्व मन्त्री हंसक ने एक शुभेच्छु, स्वामिभक्त सेवक के नाते अपने महाराज को समझाने का प्रयत्न किया—

"महाराज ! मेरी सुनिये। निस्सन्देह आप महाबलवान हैं। किन्तु यह भी विचार कर लेना चाहिए कि विरोधी पक्ष की स्थिति क्या है ? सबसे पहली बात तो यह है कि आप महाराज कंस के वध का बदला लेना चाहते हैं, किन्तु यह भूल रहे हैं कि कंस अपराधी थे। उन्होंने एक के बाद एक क्रूरतापूर्ण कार्य किए थे। वे अनीति के मार्ग पर चल रहे थे। अविवेकी थे। उनके अविवेक, अनीतिपूर्ण आचरण तथा क्रूरता का स्वाभाविक परिणाम उन्हें भोगना पड़ा। इसमें यादवों का कोई दोष नहीं है।

"महाराज ! नीतिशास्त्र कहता है कि शत्रु को कभी निर्बल नहीं समझना चाहिए। फिर कृष्ण तो अति बलवान हैं। सर्वसमर्थ हैं। उनके साथ युद्ध करने में मुझे तो कुशल दिखाई नहीं देती।

"महाराज ! रोहिणी के स्वयम्वर की घटना का स्मरण कीजिए। उस समय दशार्ह वसुदेव ने सैकड़ों राजाओं से भरी उस सभा में उन राजाओं का क्या हाल किया था ? किसी एक भी राजा का साहस नहीं था कि वह वसुदेव का सामना कर सके। प्रभु ! उस समय हमारे सैन्य की रक्षा उसके भाई समुद्रविजय ने ही की थी।

"और महाराज, उस समय तो कृष्ण-बलराम नहीं थे। जबकि अब तो कृष्ण भी हैं और बलराम भी। और मैंने पता लगाया है कि उनके एक भाई और भी हैं जिन्हें लोग भावी तीर्थंकर अरिष्टनेमि कहकर पुकारते हैं। कृष्ण-बलराम की शक्ति से तो आप परिचित हो चुके हैं। वसुदेव और समुद्रविजय की शक्ति को आप पहले ही जान चुके हैं। किन्तु इन अरिष्ट-नेमि की शक्ति का तो आपको आभास तक नहीं है। वे इतने बलवान हैं कि अपने भुजबल से यह भरतक्षेत्र तो क्या, सारी पृथ्वी को विजित कर सकते हैं.....।"

"मन्त्रिवर ! क्या आप मुझे डराना चाहते हैं ?"—जरासन्ध का धैर्य टूटने लगा और वह बोला।

हंसक मन्त्री ने विनयपूर्वक कहा—

"नहीं महाराज ! मैं आपको डराना नहीं चाहता हूँ। तनिक सोचिए —मेरे पास पक्की सूचना है कि कृष्ण के अनेक वीर पुत्रों में दो ऐसे महा-रथी, महाप्रतापी पुत्र है कि उनके सामने भी युद्ध में टिक पाना असम्भव है। वे दोनों हैं—प्रद्युम्नकुमार और शाम्बकुमार। इसके अतिरिक्त आप महाबली पंच पाण्डवों को तो जानते ही हैं। वे कृष्ण के मित्र हैं, उनके साथ हैं। उनमें से भीम और अर्जुन कैसे विकट गदाधारी और धनुर्धर हैं यह कैसे बताया जाय ? स्वयं यमराज भी उनके सामने पड़ने से भय खाते हैं। अर्जुन के समान अचूक धनुर्धर इस भरतक्षेत्र में न कभी हुआ है और न होने की आशा है.....।"

"मन्त्रिवर ! हम बहुत सुन चुके। अब बस कीजिए.....।"

"नहीं, महाराज ! मैं आपका सेवक हूँ और इसलिए आपके हित की बात तो कहकर ही रहूँगा। महाराज ! यादवों की शक्ति असीम है, जिसका तनिक-सा परिचय मैंने आपको दिया है। अब आप अपनी शक्ति का भी ठीक विचार कर लीजिए। उससे तुलना हो जाएगी। देखिए, आपकी ओर आपके अतिरिक्त शिशुपाल और रुक्मी अग्रगण्य हैं, यह तो ठीक है न ? तो सोचिए महाराज कि रुक्मिणी हरण के समय शिशुपाल और रुक्मी की क्या हालत अकेले बलराम ने की थी ? रुक्मी अपना सिर मुंडवाकर, मुँह छिपा कर बैठ गए थे और शिशुपाल भाग खड़े हुए थे।

"दुर्योधन और शकुनि ? महाराज ! इन कुरुवंशी दुर्योधन और गान्धार नरेश शकुनि पर भरोसा न रखिए। ये दोनों तो युद्धकला की अपेक्षा छल-प्रपंच की विद्या में ही अधिक निपुण हैं। कृष्ण-बलराम-अरिष्ट-नेमि के समक्ष इनका छल-प्रपंच कहीं टिकने वाला नहीं है। मैंने सुना है कि प्रद्युम्नकुमार और शाम्बकुमार के पास जो प्रज्ञप्ति इत्यादि विद्याएं हैं उनके सामने दुर्योधन और शकुनि महाराज पानी भरते दिखाई देंगे।

"हाँ, महाराज, मैं ठीक कह रहा हूँ। क्रोधित न होइये। मेरा कर्तव्य है कि मैं वास्तविक स्थिति से आपको अवगत कराऊं और वही मैं कर रहा हूँ। मैं बिलकुल ठीक, बिलकुल यथार्थ कह रहा हूँ महाराज, कि ये दुर्योधन और शकुनि तो वीर पुरुषों में गिने जाने के योग्य भी नहीं हैं। हाँ, एक कर्ण अवश्य है। वे महारथी हैं, परमवीर हैं। मैं स्वीकार करता हूँ। किन्तु अकेले कर्ण से क्या होना है ? कृष्ण की ओर जितने महारथी-महापुरुष महावीर हैं उनकी तुलना में केवल आप और कर्ण कब तक ठहर पाएंगे महाराज ?"

"मन्त्री हंसक ! अब आप चुप हो जाइए, अन्यथा.....।"—जरासन्ध गरजा। किन्तु हंसक चुप नहीं रहा। उसने कहा—

"अन्यथा आप मेरा शीष उतार लेंगे, यही न महाराज ? तो उतार लीजिए। मेरा शीष आपकी सेवा में प्रस्तुत है। किन्तु सत्य है वह तो मैं कहूँगा ही। यह मेरा स्वामिधर्म है—

"सुनिए, महाराज ! यह तो हुई दोनों ओर की शक्ति की तुलना। अब मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि कृष्ण के अधिष्ठायक देवता उनके कल्याण के प्रति जाग्रत एवं आपके प्रतिकूल हैं। राजकुमार कालकुमार के प्राणान्त की घटना मेरे इस कथन को सिद्ध करती है। इसके अतिरिक्त, महाराज, विचारणीय बात यह भी है कि,यादव लोग कोई अन्यायपूर्ण आचरण नहीं करते हैं। कंस महाराज अन्यायपूर्ण आचरण कर रहे थे, अतः उनका वध हुआ। किन्तु यादवगण अन्यायी नहीं हैं। वे हिंसा से भी बचना चाहते हैं इसीलिए बलवान होते हुए भी वे मथुरा त्याग कर चले गए और द्वारिका बसा कर रहने लगे।

"अन्त में, महाराज, मैं यही कहना चाहता हूँ कि आप अब भी समय रहते यादवों पर आक्रमण करने का विचार त्याग दीजिए। अन्यथा यदि आपने उन पर आक्रमण किया तो उन्हें भी विवश होकर अपनी रक्षा हेतु युद्ध में उतरना ही पड़ेगा.....।"

"बस, बस, अब अपना उपदेश बन्द करो मन्त्री हंसक !"—जरासन्ध के धैर्य का बाँध टूट गया और चिल्लाया—"प्रतीत होता है कि तुम्हारी मति मारी गई है। अरे, इन यादवों के लिए मैं अकेला ही काफी हूँ। देख लूँगा एक-एक को। युद्ध की तैयारी जारी रहे। हम कल ही प्रस्थान करना चाहते हैं।"

जरासन्ध का यह कथन सुनकर, उचित अवसर देखकर, मन्त्री डिम्भक ने चापलूसी करते हुए कहा—

"महाराज का निर्णय उचित ही है। हमें यादवों पर तुरन्त आक्रमण करके उन्हें नष्ट कर देना चाहिए। और आप तो महाराज, परमवीर हैं, आपके सामने युद्धभूमि में कौन ठहर सकता है भला ? मैं महा सेनापतिजी को अभी सन्देश देता हूँ कि युद्ध-प्रयाण कल ही होना निश्चित हो गया है।"

"हाँ, डिम्भक मन्त्री, जाओ, सेनापति से तैयार रहने के लिए कह

दो। हमारा निश्चय अटल है। अब स्वयं ब्रह्मा भी यदि आ जायं तो हम पीछे हटने वाले नहीं हैं।"

महाराज जरासन्ध की यह बात सुनकर हंसक मन्त्री ने अपने मन ही मन में कहा—अब स्वयं ब्रह्मा भी आ जायं तो जरासन्ध को बचा नहीं सकते।

× × × ×

अपने हठ पर अडिग जरासन्ध दूसरे दिन यादवों पर आक्रमण करने के लिए तैयार हो गया। उसका विशाल सैन्य सुसज्जित होकर नगर के बाहर मैदान में पंक्तिबद्ध खड़ा था। प्रयाण के आदेश की प्रतीक्षा थी। अश्व दौड़ लगाने के लिए आतुर होकर अपने सशक्त खुरों से धरती खरच रहे थे।

अन्त में अपनी रानियों से मंगल-तिलक आदि कराकर जरासन्ध भी अन्तःपुर से बाहर निकल आया और जब वह प्रस्थान करने को हुआ तो कुछ अपशकुन हुए। ठीक प्रयाण के समय उसके मस्तक का मुकुट खिसक कर टेढ़ा हो गया। हृदय पर धारण किया हुआ हार टूट गया। बायीं आंख फड़क गई। उसका पैर उसके वस्त्र में उलझ गया और वह लड़खड़ा कर गिरता-गिरता बचा। सामने किसी ने छींक दिया। एक सर्प रास्ता काटते हुए फुफकारता हुआ चला गया। बिल्ली भी राह काट गई। उसके राजगजराज ने भी उसी समय मल-मूत्र का विसर्जन कर दिया। वायु भी उस समय प्रतिकूल दिखाई दिया और आकाश में मँडराते हुए गिद्ध दिखाई पड़ने लगे। इतने सारे अपशकुन जरासन्ध की प्रयाण बेला में हुए।

इन अपशकुनों को देखकर स्वामिभक्त और नीतिवान मन्त्री हंसक ने अपने प्राणों की भी परवाह न करते हुए एक बार फिर जरासन्ध को समझाने और रोकने का अन्तिम प्रयत्न करते हुए कहा—

"महाबली महाराज! अपराध क्षमा हो। और यदि क्षमा न दे सकें तो भले ही मेरा सिर काट लें, किन्तु मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप एक बार पुनर्विचार कर लें। देखिए महाराज, आपकी प्रयाण-वेला में कैसे-कैसे अपशकुन एक साथ दिखाई दे रहे हैं। क्या आप इनकी ओर भी ध्यान नहीं देंगे?"

"वीर पुरुषों का ध्यान एक ही उद्देश्य की ओर रहता है, हंसक

मन्त्री ! वे स्त्रियों की भाँति इन छोटी-छोटी बातों की चिन्ता नहीं करते। बस, समय हो चुका है। यदि तुम्हें भय लगता हो तो तुम राजधानी में ही बैठो। हम युद्ध के लिए जा रहे हैं।"

"ऐसा कैसे हो सकता है, महाराज ! जहाँ राजा, वहीं मन्त्री। आप निश्चय पर अडिग हैं तो फिर मैं भी अपने तन-मन से आपके साथ ही हूँ। पधारिये, महाराज !"

हंसक मन्त्री ने यह कहा और सिर झुका लिया। वह सोच रहा था—लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितं कः समर्थः ?—जिसके ललाट में जो कुछ लिखा है उसे मिटाने अथवा रोक सकने में जो कौन समर्थ है ?

जरासन्ध अपने राज-गजराज पर आरूढ़ हो चुका था।

युद्ध अब अनिवार्य था।

अनेक अपशकुन होने के उपरान्त भी जरासन्ध रुका नहीं। वह अपनी विशाल सैन्य-वाहिनी के साथ तेजी से राजगृही से निकलकर द्वारिका के पथ पर आगे बढ़ा।

द्वारिका जब कुछ ही योजन की दूरी पर रह गई तब युद्ध भूमि की दृष्टि से उपयुक्त एक विशाल मैदान में जरासन्ध ने अपनी सेना को शिविर लगाने की आज्ञा दे दी। उस समय सन्ध्याकाल हो चुका था। थके-हारे सैनिक शीघ्र ही भोजनादि से निवृत्त होकर नींद की गोद में चले गए और इस प्रकार अपनी थकान उतार कर आने वाले महासमर के लिए तैयार होने लगे।

सवेरा भी हो गया। जरासन्ध की आज्ञा से उसके महासेनापति ने चक्रव्यूह सजाना आरम्भ किया। उस चक्र में कुल मिलाकर एक हजार नोंकें निकाली गयीं। प्रत्येक नोंक पर एक राजा की अधीनता में एक हजार हाथी, दो हजार रथ, पाँच हजार अश्व और सोलह हजार पदाति सैन्य नियुक्त किया गया।

चक्र के मध्य भाग में स्वयं जरासन्ध जम गया। उसकी रक्षा के लिए चारों ओर सैकड़ों राजा अपने-अपने शक्तिशाली सैन्य के साथ चट्टान की भाँति अड़े हुए दिखाई दे रहे थे। जरासन्ध के पीछे गान्धार देश की सेना खड़ी हुई। दायीं ओर सौ कौरव तथा बायीं ओर मध्य देश के राजा की सेना थी। इस चक्रव्यूह को और भी दृढ़ बनाने के लिए इसके मुख पर

शकटव्यूह की रचना की गई और चक्रनाभि की सन्धियों पर अन्य राजाओं को ससैन्य नियुक्त कर दिया गया।

व्यूह रचना पूर्ण हो गई। जरासन्ध ने कौशल देश के अधिपति हिरण्याभ को इस चक्रव्यूह का प्रधान सेनापति नियुक्त किया।

यह व्यवस्था होते-होते शाम घिर आई थी। विश्राम की बेला हो गई थी। अब तो जरासन्ध को केवल प्रतीक्षा ही करनी थी—यादवों की।

वे यादव भी, जिनकी प्रतीक्षा जरासन्ध चक्रव्यूह रचाकर कर रहा था, सोए हुए नहीं थे। उन्हें जरासन्ध की प्रत्येक गतिविधि की राई-रत्ती खबर थी। उनकी द्वारिका नगरी अभेद्य थी। किन्तु वे शत्रु का सामना दुर्ग में बैठकर नहीं करना चाहते थे। आततायी आक्रमणकारी को मुँहतोड़ उत्तर वे समर्थ महारथी खुले मैदान में ही देना चाहते थे। अतः अपनी शक्तिशाली और विशाल सेना के साथ वे जरासन्ध का सामना करने के लिए उसके बिलकुल समीप ही आ पहुँचे थे।

जरासन्ध ने अभेद्य चक्रव्यूह की रचना की थी।

तो यादवों ने अचूक गरुड़व्यूह बनाया।

इस व्यूह में सबसे आगे कृष्ण और बलराम रहे। वसुदेव के अन्य पुत्र अक्रूर, कुमुद, पद्म, सारण, विजय, जय, जरत्कुमार, सुमुख, दृढ़मुष्टि, विदूरथ, अनाधृष्टि आदि एक लक्ष रथों सहित कृष्ण के अंगरक्षक नियुक्त किए गए।

उनके पीछे एक कोटि रथों सहित राजा उग्रसेन थे और उनके अंगरक्षकों का स्थान उनके चार पुत्रों ने सम्हाला। इनके पीछे धर, सारण, चन्द्र, दुर्धर और सत्यक नामक पाँच राजा अपनी-अपनी सेनाओं सहित रहे जिनका कार्य आवश्यकता पड़ने पर आगे के सैन्य को सहायता पहुँचाना था।

दाहिनी ओर महाराज समुद्रविजय अपने भाई और पुत्रों के साथ खड़े हुए। महानेमि, सत्यनेमि, दृढ़नेमि, सुनेमि, अरिष्टनेमि, विजयसेन, मेघ, महाजय, तेजसेन, जयसेन, जय और महाद्युति आदि परमवीर कुमार उनकी दाएँ-बाएँ नियुक्त किये गये।

बायीं ओर योद्धाओं के शिरोमणि पाँचों पांडवों की नियुक्ति बलराम के पुत्रों के साथ की गई। उनके पीछे पच्चीस लाख रथों के साथ

उल्मूक, निषध, शत्रुदमन, प्रकृति, द्युति, सात्यकि, श्रीध्वज, देवानन्द, आनन्द, शान्तनु, शतधन्वा, अतिवीर, दशरथ, ध्रुव, पृथु, विपृथु, महाधनु, दृढ़धन्वा और देवनन्दन आदि वीर योद्धा नियुक्त हुए।

इन सबके पीछे चन्द्रयशा, सिंहल, बर्बर, काम्बोज, केरल और द्रविड़—यह राजन्य कुल साठ हजार रथों के साथ नियुक्त किये गये। उनके पीछे थे राजा शाम्बन, जो कि समरांगण में जब एक बार उतर जाते थे तो फिर अपने स्थान पर पर्वत के समान अचल हो जाते थे, अर्थात् उन्हें अपने स्थान से डिगा पाना शत्रु-पक्ष के लिए असम्भव ही हो जाता था।

राजा शाम्बन के भी पीछे भानु, भामर, भीरुक, असित, भानुक, धृष्णु, कम्पित, गौतम, शत्रुञ्जय, महासेन, गम्भीर, बृहद्ध्वज, वसुवर्मा, कृतवर्मा, उदय, प्रसेनजित, दृढ़वर्मा, विक्रान्त और चन्द्रवर्मा इत्यादि अपना मोर्चा सम्हाल कर सन्नद्ध हो गये।

श्रीकृष्ण ने अपने इस गरुड़ व्यूह की रचना का निरीक्षण बड़ी बारीकी से स्वयं अपनी देख-रेख में किया और जब वे प्रत्येक दृष्टि से आश्वस्त हो गए, सारी व्यवस्था यथोचित हो गई, तब तक सन्ध्या घिर आई और समस्त सैन्य को विश्राम की आज्ञा प्रदान कर दी गई।

सौधर्मेन्द्र अरिष्टनेमि के जन्म के समय से ही उनकी रक्षा के लिए सन्नद्ध रहता था, यह बात हमारे पाठकों को ज्ञात है। अतः जब उसने देखा बन्धु-प्रेम के कारण तथा अन्याय एवं अनीति के विरोध के लिए अरिष्टनेमि भी इस युद्ध में भाग लेने जा रहे हैं, तब उसने दैविक चातुर्ययुक्त सारथि मातलि को नाना प्रकार के शस्त्रों से भरे हुए अपने रथ सहित उनके पास भेज दिया। वह रथ अत्यन्त तीव्र गति से प्रत्येक दिशा में गमन करने वाला था। यदि सारथि कुशल था तो रथ भी श्रेष्ठ था। वह सूर्य के समान प्रकाशित था और अनेक प्रकार के रत्नों से जड़ित होने के कारण उसकी शोभा अवर्णनीय थी। इन्द्र का सारथि रथ सहित अरिष्टनेमि के पास आया और उसने उनसे प्रार्थना की—

"प्रभु! सौधर्मेन्द्र ने आपके उपयोग हेतु मुझे आपकी सेवा में इस रथ सहित नियुक्त किया है। कृपया आप इस रथ पर आरूढ़ होकर ही इस युद्ध में भाग लें।"

अरिष्टनेमि ने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली।

दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्योदय के साथ ही दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध प्रारम्भ हो गया। पहले तो दोनों ओर के सैनिक अपने विपक्षी की गतिविधि को भाँपते और देखते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़े किन्तु जब आमना-सामना हो गया और मुठभेड़ का समय आ गया तब जितनी विकट मार-काट मची, उसे देखकर दिशाएँ भी कम्पित होने लगीं। दोनों पक्ष के सैनिक एक-दूसरे के व्यूह का भेदन कर उसे ध्वस्त कर देने के लिए प्राणपण से चेष्टा कर रहे थे।

आरम्भ में जरासन्ध के सैन्य ने एक तीव्र आक्रमण करके यादव सैन्य के अग्रभाग को पीछे धकेलने में सफलता प्राप्त कर ली। यह देखकर महानेमि, अनाधृष्टि और अर्जुन के क्रोध का पारावार न रहा। उन महा-वीरों का तेज प्रगट हुआ और अपने-अपने शंख फूँककर अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करते हुए वे आँधी की तरह आगे बढ़े। इस भीषण आक्रमण से शत्रु सैन्य घबरा उठा।

जिस प्रकार कोई मदोन्मत्त हाथी जंगल में लताजाल को छिन्न-भिन्न कर देता है, उसी प्रकार इन तीनों वीरों ने शत्रु सेना को तितर-बितर कर देना आरम्भ किया और देखते ही देखते तीन स्थानों से जरासन्ध के चक्रव्यूह को तोड़कर उसमें प्रवेश कर लिया। उस चक्रव्यूह का एक साथ तीन स्थानों से टूट जाना जरासन्ध के सैन्य के लिए एक प्रबल आघात था। ऐसा लगने लगा कि अब वह सैन्य टिक नहीं पाएगा। सैनिक अपने प्राणों की रक्षा के लिए इधर-उधर भागने की राह खोजने लगे।

अपनी सेना की यह स्थिति देखकर दुर्योधन, रुक्मि और रुधिरराजा का पुत्र आगे बढ़े और उन्होंने यादव सेना से उन तीनों वीरों के वेग को रोकने के तथा अपनी सेना के बिखराव को रोकने का प्रयत्न किया। रुक्मी ने महानेमि को ललकारा और उसके साथ भिड़ गया। किन्तु रुक्मी का अहंकार कुछ ही देर में उतर गया जब उसने देखा कि महानेमि की अजस्र बाण वर्षा के सामने ठहरना उसके लिए असम्भव है। सम्भव यह था कि महानेमि के हाथों वह काल के ग्रास में ही चला जाता, किन्तु उसी समय उसकी सहायता के लिए शकुन्तप आदि सात राजा दौड़ पड़े।

यह देखकर महानेमि ने अपनी गति और भी अधिक तीव्र कर दी। उनके बाणों की अचूक और अजस्र वर्षा के सामने रुक्मी सहित उन सातों राजाओं की एक भी न चल सकी। शकुन्तप भी वीर था। किन्तु महानेमि

के तीरों ने उसे व्याकुल कर दिया। अन्ततः अन्य कोई उपाय न देखकर उसने एक महाशक्ति उस पर छोड़ दी।

वह महाशक्ति बड़ी प्रलयंकारी थी। उसके प्रभाव से यादव सेना का भीषण संहार होने लगा। यह देखकर मातलि ने अरिष्टनेमि से कहा—

"प्रभु! प्राचीन काल में जिस प्रकार रावण को धर्मेन्द्र से अमोघ-विजया शक्ति प्राप्त हुई थी उसी प्रकार शक्रन्तप को बलीन्द्र से यह शक्ति प्राप्त हुई है। यह शक्ति अत्यन्त घातक है। वज्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी शस्त्र से इसका भेदन नहीं हो सकता।"

यह सुनकर अरिष्टनेमि ने मातलि को आज्ञा दी कि वह महानेमि के धनुष पर वज्रबाण चढ़ा दे। मातलि ने ऐसा ही किया और महानेमि ने वह बाण चढ़ाकर बड़े वेग से उसे छोड़कर उस शक्ति को काट डाला। इस प्रकार महानेमि के साथ युद्ध करते हुए रुक्मी और उसके सहायक राजा स्वयं को असहाय अनुभव करने लगे।

अर्जुन अचूक धनुर्धर था। उसका कोई भी बाण अपने लक्ष्य से तिलमात्र भी इधर-उधर नहीं होता था। उसने जरासन्ध के सैन्य पर ऐसी विकट बाणों की वर्षा की कि आकाश में अन्धकार छा गया। उसके गाण्डीव की टंकार से दिशाएं काँपने लगीं और सैनिक बहरे होने लगे। बाणों की वर्षा करते समय अर्जुन के हाथों की गति इतनी तीव्र होती थी कि मनुष्य तो क्या अपलक देखने वाले देवता भी यह जान नहीं पाते थे कि वह कब बाण धनुष पर चढ़ाता है और कब उन्हें छोड़ देता है। उसने शत्रु सेना में प्रलय का दृश्य उपस्थित कर दिया था।

यदि अर्जुन को रोका न गया तो वह हमारी दुर्दशा कर देगा, यह सोचकर दुर्योधन, कासि, त्रिगर्त, सबल, कपोत, रोमराज, चित्रसेन, जयद्रथ, सौवीर, जयसेन, शूरसेन, सोमक आदि राजा युद्ध के नियमों को ताक पर रखकर एक साथ ही उस पर टूट पड़े। किन्तु अर्जुन ने ऐसा विकट संग्राम किया कि उन सभी राजाओं को छठी का दूध याद आ गया। उन सबके शस्त्रों को अर्जुन ने काट डाला और दुर्योधन के सारथि को मार डाला। रथ छिन्न-भिन्न कर दिया। इससे लज्जित होकर दुर्योधन को शकुनि की शरण लेनी पड़ी। वह उसके रथ पर चढ़कर युद्ध करने के लिए विवश हो गया।

एक स्थान पर शल्य और युधिष्ठिर का युद्ध हो रहा था। युधिष्ठिर

ने शल्य को यमलोक का रास्ता दिखा दिया। महाबली भीम शत्रु सेना को इस प्रकार रौंदे डाल रहा था जिस प्रकार कोई हाथी कीड़े-मकोड़ों को मसलता चला जाय। उसने द्यूतक्रीड़ा के समय प्रतिज्ञा की थी कि वह दुःशासन का वध करेगा। आज उसने वह प्रतिज्ञा पूर्ण कर डाली और दुःशासन का भी अन्त हो गया।

महाकपटी शकुनि सहदेव से भिड़ा हुआ था। बहुत समय तक उनमें बराबरी का युद्ध होता रहा। किन्तु फिर शकुनि और दुर्योधन एक साथ सहदेव पर आक्रमण करने लगे। यह देखकर सहदेव ने कहा—

"तुम दोनों जन्म से ही छल करने वाले और अन्यायी हो। क्षत्रिय होकर तुम अनीति का आधार लेकर जैसा युद्ध कर रहे हो वह क्षत्रियों को लज्जित करने वाला है। किन्तु ठहरो, एक पाठ मैं आज तुम दोनों को पढ़ाये ही देता हूँ।"

यह कहकर सहदेव क्रोधित होकर सिंह की भाँति उन दोनों से भीषण संग्राम करने लगा। उसने अपने बाणों की वर्षा से उन दोनों को ढक दिया और अन्त में उसने शकुनि के सारथि को मारकर, उसके रथ के टुकड़े-टुकड़े करके, शकुनि को भी यमलोक पहुँचा दिया।

इस प्रकार शकुनि के अन्त के साथ भारत के इतिहास में से छल और कपट के एक दुखदायी अध्याय का अन्त हो गया।

शकुनि की मृत्यु से दुर्योधन का एक हाथ टूट गया। वह बहुत दुःखी हुआ। उसने अब जयद्रथ एवं कासि नामक राजाओं को साथ लेकर अर्जुन को रोकने या समाप्त कर देने की ठानी। किन्तु अर्जुन को रोक पाना किसी के वश में नहीं था। बलराम के वीर पुत्रों से घिरे हुए अर्जुन ने अपने तीक्ष्ण बाणों के प्रहारों से जयद्रथ आदि राजाओं को दिन में ही तारे दिखा दिये और अन्त में जयद्रथ के सिर को भी काट दिया।

जयद्रथ की मृत्यु दुर्योधन के लिए एक प्रबल आघात थी। उसे जयद्रथ पर बहुत विश्वास था। जयद्रथ की गणना बड़े-बड़े वीरों में की जाती थी। अतः उसकी मृत्यु से जरासन्ध की सेना में बहुत निराशा फैलने लगी।

यह देखकर स्वयं कर्ण अर्जुन से युद्ध करने आ गया। निस्संदेह कर्ण भी महावीर था। युद्ध कला की दृष्टि से भी वह अर्जुन के समान ही निष्णात धनुर्धर था और चरित्र की दृष्टि से भी वह एक श्रेष्ठ पुरुष था, इसमें कोई

दो मत नहीं हैं। अर्जुन और कर्ण में से कौन अधिक शक्तिशाली है, किसके बाण अचूक हैं, कौन जीतेगा और कौन हारेगा—यह कह सकना शक्य नहीं था। उन दोनों में से यदि एक-दूसरे से श्रेष्ठ नहीं तो कोई दूसरे से कम भी नहीं था। वे दोनों ही धनुर्धर अपने समय के अन्यतम धनुर्धरों में से माने जाते थे।

परिणाम यह हुआ कि उन दोनों वीरों का युद्ध अद्भुत और बहुत विकट हुआ। दोनों एक-दूसरे के बाणों को बड़ी कुशलता से काटते चले गये और अपना प्रहार जारी रखे चले गये।

किन्तु भाग्य अर्जुन के पक्ष में था।

अथवा यह कहा जाय कि अर्जुन न्याय और नीति के पक्ष में था।

कर्ण निस्सदेह महावीर था, श्रेष्ठ पुरुष था, किन्तु वह दुर्भाग्य से अन्याय के पक्ष में रह गया था।

अतः कर्ण को अन्याय के पक्ष में रहने का परिणाम भी भुगतना पड़ा।

अर्जुन ने पहले उसके समस्त शस्त्रों को काट डाला। फिर उसके रथ को भी तोड़ डाला और अन्त में उसका वध कर डाला।

इस प्रकार जरासन्ध के पक्ष का एकमात्र वास्तविक महारथी और श्रेष्ठ पुरुष अन्याय और अधर्म के पक्ष में रहने के कारण असमय में ही काल कवलित हुआ। उसकी मृत्यु सदैव भारतीय इतिहास की एक शोक-पूर्ण घटना मानी जाती रहेगी।

जयद्रथ इत्यादि अनेक अग्रणी योद्धाओं सहित महारथी कर्ण की भी मृत्यु हो जाने पर यादव सेना का मनोबल बढ़ गया और मागधी सेना के पैर उखड़ने लगे। यह देखकर दुर्योधन ने हाथियों की एक बहुत विशाल सेना लेकर भीम पर आक्रमण कर दिया। उसकी योजना थी कि किसी प्रकार भीम को धराशायी करके वीर पाण्डवों में से किसी एक की संख्या तो कम की जाय जिससे कि मागध सेना का साहस कुछ बढ़ सके तथा पाण्डवों के प्रति वैर का भी कुछ शमन हो सके।

हाथियों की वह सेना बड़ी शक्तिशाली थी। उसके पहले धक्के से यादव सेना को एकाएक कुछ पीछे हट जाना पड़ा तथा अनेक यादव सैनिक हताहत भी हो गए। किन्तु इस आरम्भिक हानि के बाद भीम की एक

प्रबल हुंकार से शत्रु सेना में फिर से खलबली मचने लगी। महाबली भीम दुर्योधन को अपने सामने देखकर बहुत समय से उससे बदला चुकाने की अपनी इच्छा को आज पूर्ण कर लेना चाहता था। अतः उसने गर्जना करते हुए कहा—

"दुष्ट दुर्योधन! तूने एक दिन भरी सभा में पतिव्रता सती द्रौपदी का अपमान किया था। वह अपमान केवल द्रौपदी का नहीं, समस्त नारी जाति का अपमान था। आज मैं उस अपमान का बदला चुकाऊँगा और तुझे यमलोक पहुंचाने की अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करूंगा।"

यह कहकर भीम ने उस दिन समरांगण में जीवन और मृत्यु का वह ताण्डव मचाया कि भूधर कांप उठे।

उस महाबली ने बड़े-बड़े हाथियों को उठा-उठा कर फेंकना आरम्भ कर दिया। रथों को भी उठाकर, चक्राकार घुमाकर इतनी शक्ति के साथ उन्हें फेंका कि उनके टुकड़े-टुकड़े होते चले गए। सामान्य सैनिकों की तो उसके सामने कोई गिनती ही नहीं थी। उस दिन बेचारे हाथियों और घोड़ों की शामत आ गई थी। भीम के हाथों में पड़कर वे सीधे यमलोक का रास्ता नापने लगे।

इस प्रकार अति विकट संग्राम करते हुए भीम ने दुर्योधन की सेना का सर्वनाश कर दिया और कूदकर उसके सामने जा खड़ा हुआ। उसे ललकारते हुए भीम ने कहा—

"इन निरपराध मनुष्यों और मूक पशुओं की बलि तूने बहुत चढ़वा दी। पापी दुर्योधन अब तू मेरे सामने है। अब यदि कहीं बचकर जा सकता हो तो भागकर देख ले। अब तो तुझे मैं यमलोक तक भी छोड़ूंगा नहीं।"

शत्रु की यह ललकार सुनकर दुर्योधन भागा नहीं। वह भी एक योद्धा तो था ही। गदायुद्ध में वह भी प्रवीण था। वह आगे बढ़ा और भीम से भिड़ गया।

उन दोनों का वह द्वन्द्व युद्ध दर्शनीय ही था। दोनों प्रवीण गदाधर एक-दूसरे के आक्रमण को निष्फल करने का प्रयत्न करके प्रतिद्वन्दी पर आघात करने का प्रयत्न करते रहे। आघात दोनों को लगे। लहू दोनों के शरीर से बहने लगा।

किन्तु भीम शारीरिक शक्ति में दुर्योधन से बहुत अधिक था। दोनों

का युद्ध बहुत देर तक चला। लेकिन फिर धीरे-धीरे दुर्योधन की शक्ति क्षीण होती चली गई और अन्त में भीम ने एक भयंकर प्रहार से दुर्योधन की इहलीला समाप्त कर दी।

अपने एक और वीर की मृत्यु से मागधी सेनापति हिरण्याभ बहुत चिन्तित और क्रोधित हुआ। अब वह स्वयं अपने सैनिकों का साहस बढ़ाता हुआ सेना के अग्रभाग में आ गया। उसने घनघोर संग्राम करके यादव सेना के अनेक वीरों को आहत और हताहत कर दिया। तुमुल संग्राम मच गया। अनाधृष्टि के दो वीर भाई इस संग्राम में खेत रहे। यह देखकर अनाधृष्टि क्रोधित होकर हिरण्याभ से भयंकर युद्ध करने लगा।

भीम और अर्जुन अपने-अपने क्षेत्र में बड़ी तेजी से मागधी सेना का संहार कर रहे थे। जरासन्ध और उसके साथी राजा इन वीरों को रोकने का व्यर्थ प्रयास कर रहे थे। अधिक हानि मागधी सैन्य की हो रही थी। किन्तु जरासन्ध अभी परास्त नहीं हुआ था। युद्ध जारी था।

प्रागज्योतिष्क का राजा भगदत्त अपने हाथी पर सवार होकर महानेमि की ओर बढ़ा। उसके सामने आकर उसने अहंकार से भरे हुए कुछ वचन कहे। वह बोला—"महानेमि! अब तू सावधान हो जा। मैं रुक्मि या अश्मक नहीं हूँ जिन्हें तूने पराजित करके भगा दिया। अब मैं तेरा काल तेरे सामने हूँ।"

बोलने और करके दिखाने में बहुत अन्तर होता है।

भगदत्त के साथ भी यही हुआ। बोलने को तो वह बहुत कुछ बोल गया, किन्तु जब करने का प्रश्न आया तब उसकी असलियत सामने आते अधिक देर भी नहीं लगी। महानेमि ने उसे देखते-देखते ही निहत्था कर दिया। उसके शस्त्रों को काट गिराया और हाथी तथा महावत को मार डाला।

इस प्रकार निहत्थे, असहाय, लज्जित भगदत्त को जीवनदान देते हुए महानेमि ने कहा—

"जाओ, राजा भगदत्त, अब भाग ही जाओ। मैं तुम्हें जीवनदान देता हूँ। भविष्य में अपने मुख से वचन कहने से पहले उन पर विचार कर लिया करो।"

यह कहकर महानेमि दूसरी ओर आगे बढ़ गए।

उस दिन के महाभीषण युद्ध में दो अन्य वीरों का भी द्वन्द्व युद्ध भी बहुत विकट हुआ था। वे वीर थे—भूरिश्रव और सात्यकि। भूरिश्रव मागधी सैन्य की ओर से लड़ रहे थे और सात्यकि यादव सेना की ओर से। दोनों प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। महाबली थे। ताल ठोककर जब वे एक-दूसरे से भिड़ जाते थे तब ध्वनि से दिशाएं कम्पित हो जाती थीं और वेग से पृथ्वी हिल उठती थी। बहुत देर तक दोनों वीर एक-दूसरे का सामना करते रहे, किन्तु अन्त में भूरिश्रव थक गया। सात्यकि ने प्रबल वेग से उसे उठाकर भूमि पर पटक दिया और उसकी छाती पर पैर रखकर उसकी गर्दन तोड़ दी।

ठीक यही हाल जरासन्ध के सेनापति हिरण्याभ का भी हुआ। बहुत समय तक उसमें और अनाधृष्टि में युद्ध होता रहा। अनेक अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग दोनों ने एक-दूसरे के विरुद्ध किया। शस्त्र कटते और टूटते चले गए। योद्धा धीरे-धीरे थकते चले गये। अन्तत. हिरण्याभ ही पहले बहुत अधिक थक गया और उसमें लड़ने की शक्ति शेष नहीं रही। तब अनाधृष्टि ने हाथों-हाथ के युद्ध में तलवार से उसका सिर काट डाला। इस प्रकार हिरण्याभ का भी अन्त हो गया।

पुराने जमाने में सेनापति की मृत्यु किसी भी सेना के मनोबल को तोड़ देने के लिए बहुत प्रभावी होती थी। मागधी सैन्य के अनेक महारथी एक-एक कर काल के ग्रास बन चुके थे और अब उसके सेनापति हिरण्याभ के अन्त से तो उस सैन्य में हाहाकार मच गया और निराशा के गहरे बादल उस पक्ष पर छा गए।

सूर्यास्त भी हो गया।

आकाश में सूर्य अस्त हुआ और इधर पृथ्वी पर जरासन्ध के भाग्य के सूर्य के भी अस्त होने की तैयारी होने लगी।

किन्तु उस समय, युद्ध के नियमों के अनुसार दोनों ही पक्षों के सैनिक अपने-अपने शिविरों में लौट गये। उस दिन के युद्ध का अन्त हुआ। वह रात्रि घायल सैनिकों की शुश्रूषा, मृत सैनिकों के दाह और शेष समय में विश्राम में देखते-देखते ही व्यतीत हो गई।

× × ×

दूसरे दिन सूर्योदय से पूर्व ही दोनों सेनाएं फिर से आमने-सामने डट गयीं। जरासन्ध ने आज अपना सेनापति शिशुपाल को बनाया। यादव

सैन्य के सेनापति अनाधृष्टि ही रहे। युद्ध आरम्भ होने से पूर्व जरासन्ध ने परिस्थिति का अवलोकन करते हुए हंसक मन्त्री से पूछा—

"हंसक ! तनिक मुझे बताना तो कि आज मुझे इन यादवों के किन-किन यौद्धाओं को यमपुरी की राह दिखानी है। उनका परिचय तो जरा दो। किस-किस रथ में कौन-कौन आरूढ़ है ?"

हंसक मन्त्री की मुद्रा गम्भीर थी। वह अनिष्ट की आशंका से घिरा हुआ था। किन्तु अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करते हुए उसने संकेत करते हुए बताना आरम्भ किया—

"महाराज ! सर्वप्रथम यादवों के सेनापति का ही परिचय देना उपयुक्त होगा। वे उस श्याम वर्ण के अश्वों वाले रथ में अनाधृष्टि हैं—जिन्होंने कल भीषण संग्राम किया था। वे ही यादव सैन्य के सेनापति हैं। उनके ध्वज में गज का लांछन है। यही उनकी सबसे अच्छी पहचान है।

"नीलवर्णी अश्वों वाले रथ में युधिष्ठिर हैं और श्वेत अश्वों तथा कपिलध्वज वाला वह रथ सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन का है। वे विशालकाय भीमसेन अपने विशालकाय रथ में बैठे हैं जिसमें नीलकमल के पत्रों के समान कान्ति वाले अश्व जुते हुए हैं। और वह रथ, जिसमें सुवर्ण के समान चमकीले अश्व जुते हुए हैं महाराज समुद्रविजय का है.....।"

"ठहरो, हंसक, वह, उधर कौन है जिसके शरीर की नीलवर्णी कांति दिशाओं को भी आलोकित प्रतीत करती हुई होती है ? यह तो कोई विशिष्ट पुरुष दिखाई देता है।"—जरासन्ध ने एक ओर संकेत करते हुए पूछा। हंसक मन्त्री ने उधर देखते हुए बताया—

"महाराज ! आपका अनुमान ठीक है। ये पुरुष वास्तव में पुरुषोत्तम ही हैं। मुझे सूचना मिली है कि ये अरिष्टनेमि हैं, जिनके शारीरिक और आत्मिक बल की थाह कोई लगा ही नहीं सकता।"

"क्या तुम मुझे फिर भयभीत करना चाहते हो, हंसक ?" जरासन्ध ने कुछ चौंकते और रुष्ट होते हुए कहा।

"नहीं महाराज ! आपको भयभीत कौन कर सकता है ? और फिर मैं तो आपका सेवक हूँ। मेरा धर्म तो आपको वास्तविकता से अवगत कराना ही है। वही मैं कर रहा हूँ। महाराज ! यदि कृष्ण और बलराम की शक्ति का कोई अन्त नहीं है तो उन दोनों की सम्मिलित शक्ति से भी असंख्य गुनी अधिक इन अरिष्टनेमि की शक्ति है, मुझे अपने गुप्तचरों से

ऐसी ही सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं, यहाँ तक, महाराज, लोग कहते हैं कि अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर हैं.....।"

"होने दो, हंसक, वे जो भी हों, इस समय तो वे मेरे प्रतिद्वन्द्वी हैं। अब मैं किसी भी प्रकार से पीछे हटने वाला नहीं हूँ। मुझे कंस-वध का बदल लेना है। जीवयशा की प्रतिज्ञा पूर्ण करवानी है। चलो, और लोगों का परिचय भी दे डालो। शीघ्रता करो।"—जरासन्ध ने आदेश दिया।

"महाराज! अरिष्टनेमि के शुभ्रवर्णी अश्वों एवं वृषभ के लांछन वाले रथ से आगे, उधर, कबरे अश्वों वाला रथ अक्रूर का है जिसमें कदली का चिह्न है। सात्यकि के रथ में तीतर और उड़द के समान अश्व जुते हैं। वह महानेमिकुमार हैं, जिनके रथ में कुमुद के समान कान्तिवान अश्व हैं। वे महाराज उग्रसेन हैं। वह जरत्कुमार हैं। उधर वह सिंहल, राजा मेरु, राजा सारण और बलराम के भ्राता विदूरथ हैं।

"और, महाराज! सफेद अश्वों वाले गरुड़ध्वज रथ में आसीन नीलाकाश जैसी कान्ति वाले जो महापुरुष हैं उन्हें तो आप पहचान ही गए होंगे?"

"वह तो कृष्ण दिखाई देता है।"

"हाँ महाराज! वे ही कृष्ण हैं। और उनकी दाहिनी ओर साक्षात् चलते-फिरते कैलाश पर्वत के समान जो दिखाई दे रहे हैं उन्हें भी तो आप पहचान सकते हैं?"

"हूँ! वह बलराम ही होगा न?"

"हाँ, महाराज! वे ही बलराम हैं।"

"ठीक है। इन दोनों दुष्टों को मैंने ठीक से पहचान लिया है। अब बस करो, हंसक! युद्ध का समय हो गया है। प्रभात की प्रथम किरण फूटने वाली है।"—इतना कहकर जरासन्ध ने पीछे लौटकर सेनापति शिशुपाल को आदेश दिया—"रणभेरी फूँक दो, सेनापति!"

आदेश का पालन करते हुए शिशुपाल ने उस दिन स्वयं अपनी और जरासन्ध की मृत्यु का आह्वान करती हुई रणभेरी फूँक दी।

युद्ध आरम्भ हो गया। जरासन्ध ने अपने सारथि को रथ सीधा कृष्ण-बलराम के ही सामने ले चलने का आदेश दिया। वह आज बारे-न्यारे कर लेने के लिए कटिबद्ध था।

जरासन्ध का पुत्र यवनकुमार जो कि युवराज था, अक्रूर से जा भिड़ा। भीषण संग्राम छिड़ गया। अक्रूर को यवनकुमार की भीषण बाण वर्षा में घिरा देखकर बलराम के पुत्र सारण ने अपनी बाण वर्षा से यवनकुमार का मार्ग रोक दिया। और अब उन दोनों में युद्ध होने लगा। यवनकुमार भी बलशाली था। हाथी पर सवार होकर उसने सारण के रथ के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। सारण भी क्रोधित होकर उस पर झपट पड़ा और अपनी तलवार से उसने यवनकुमार के हाथी को मार कर फिर यवनकुमार का भी सिर धड़ से अलग कर दिया।

अब तो जरासन्ध के क्रोध का कोई पार न रहा। अपने युवराज की मृत्यु ने उसे उन्मत्त ही बना दिया। वह बड़े वेग से सिंह के समान पराक्रम प्रगट करता हुआ यादव सेना में धंस पड़ा और देखते ही देखते उसने आनन्द, शत्रुदमन, नन्दन, श्रीध्वज, ध्रुव, देवानन्द, पीठ, हरिषेण, नरदेव और चारुदत्त नामक बलराम के दस पुत्रों को मौत के घाट उतार दिया।

सचमुच, उस समय जरासन्ध ने बहुत पराक्रम दिखाया। वह जिस तरफ भी जाता, यादव सैन्य छिन्न-भिन्न हो जाता, सुभट और सैनिक गाजर मूली के समान कट-कटकर गिर जाते और हाहाकार मच जाता। मैदान साफ हो जाता।

जरासन्ध का यह पराक्रम देखकर शिशुपाल को भी जोश आ गया। योद्धा तो वह था, किन्तु अहंकार उसे बहुत अधिक था। वह अभिमान में भरकर कृष्ण के सामने जा पहुंचा और लगा अनाप-शनाप बकने। कृष्ण उसके अनर्गल प्रलाप को मुस्कराते हुए कुछ समय तक सुनते रहे। ऐसा प्रतीत होता था मानो वह किसी बालक की मूर्खता और ढिठाई को हंसते हुए सहन कर रहे हों। उसे खिला रहे हों।

किन्तु प्रत्येक बात की एक सीमा तो होती ही है। शिशुपाल का अनर्गल प्रलाप भी जब अपनी सीमा लांघ गया तब कृष्ण ने उसे सावधान करते हुए कहा—

"शिशुपाल ! अब तुम्हारा समय समाप्त हुआ। सावधान !"

और दूसरे ही क्षण कृष्ण का चक्र विद्युत गति से घूमा तथा शिशुपाल का सिर उसके समस्त अभिमान और मूर्खता सहित पृथ्वी पर लोटने लगा।

शिशुपाल की मृत्यु के बाद जरासन्ध लगभग अकेला पड़ गया। उसके पुत्र अवश्य ही अभी मैदान में डटे हुए थे और वे वीर भी थे, किन्तु यादवों की अपार शक्ति के समक्ष यह सम्भव नहीं था कि वे अधिक समय तक टिक सकें। फिर भी उन्होंने एक बार तो बलराम को भी काफी हैरान कर डाला। तथा वे कृष्ण को भी घेर लेने के मनसूबे बाँधने लगे। यह स्थिति देखकर कृष्ण और बलराम कुछ विशेष सावधानीपूर्वक युद्ध करने लगे। युद्ध उस समय भी काफी गतिपूर्वक चलता रहा।

जरासन्ध के पुत्र काफी उत्पात मचा रहे थे। यह देखकर बलराम ने जरासन्ध के उन अठाईस पुत्रों को जो कि परेशान कर रहे थे, हल से खींचकर मूसल से कूट डाला और उनका प्राणांत कर दिया। जरासन्ध ने यह देखा तो भीषण गर्जना करता हुआ बलराम पर अचानक ही टूट पड़ा। अपनी गदा का एक ऐसा भयानक प्रहार उसने बलराम पर किया कि बलराम का सिर कुछ समय के लिए चकरा गया और वे रक्तवमन करने लगे। यदि उस समय जरासन्ध को अवसर मिल जाता और वह एक और प्रहार बलराम पर कर पाता तो अनर्थ हो सकता था। किन्तु उसी समय अर्जुन उन दोनों के बीच में आ गया और जरासन्ध उससे युद्ध करने के लिए विवश हो गया।

इधर कृष्ण ने जब देखा कि जरासन्ध ने उनके बड़े भाई बलराम को आहत कर दिया है तो वे कुपित हो गये। उन्होंने अब इस युद्ध का अन्त शीघ्र ही ला देने का निर्णय लेकर जरासन्ध के उन सभी पुत्रों को समाप्त कर दिया जो उन्हें घेरे हुए लड़ रहे थे।

एक प्रकार से कृष्ण की जरासन्ध को यह सीधी चुनौती थी।

जरासन्ध ने इस चुनौती को स्वीकार किया और वह अर्जुन को छोड़कर कृष्ण के सामने ही आ गया।

वासुदेव के समक्ष प्रतिवासुदेव आ गया।

यह भी कहा जा सकता है कि जरासन्ध स्वयं ही अपने काल के समक्ष आ खड़ा हुआ।

किन्तु जब तक उसके हाथ में शस्त्र थे, वह भी महावीर, महारथी था, युद्ध कला में पारंगत था, शरीर भी उसका बलवान था और इस समय वह क्रोधाग्नि में जलता हुआ स्वयं भी साक्षात् काल के सदृश दिखाई पड़ रहा था। कृष्ण के साथ वह भीषण युद्ध में पिल पड़ा था और मरणान्तक युद्ध का खेल खेलने लगा था।

यह देखकर मातलि आशंकित हो गया। यद्यपि वह कृष्ण के बल से अपरिचित नहीं था, फिर भी इष्टजन के अनिष्ट की आशंका एक स्वाभाविक मनोभावना है। अतः उसने अरिष्टनेमि से कहा—

"हे प्रभु! यह युद्ध अब अपने चरम बिन्दु पर पहुंच रहा है। इस बिन्दु पर अब इसे समाप्त हो जाना चाहिए। जरासन्ध इस समय बहुत विकराल बन गया है। यदि इस समय उसे किसी प्रकार रोका नहीं गया तो कुछ कहा नहीं जा सकता कि वह क्या कर गुजरे और कितनी अधिक हिंसा और भी होती चली जाय।

"अतः हे भगवन्! अब इस युद्ध की पूर्णाहुति हो ही जानी चाहिए। मैं जानता हूँ कि आप जन्म से ही सावद्य कर्म से विमुख हैं, किन्तु अत्याचारी शत्रुओं द्वारा पीड़ित किये जाते हुए अपने कुल को आप उपेक्षा भाव से देखते रहें यह भी उचित प्रतीत नहीं होता। प्रभु! अब आपको अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना ही चाहिये।"

अपने सारथि का यह कथन सुनकर अरिष्टनेमि ने अपने पौरन्दर शख को फूँक दिया। उस शंख की महाध्वनि से दसों दिशाएँ काँप उठीं। यादव सैन्य में नया उत्साह आ गया और मागधी सैन्य में भय की लहर व्याप्त हो गई।

इसके बाद उनकी आज्ञा से मातलि ने उनके रथ को समर भूमि में मण्डलाकार घुमाया। उस रथ की तीव्र घरघराहट की ध्वनि अनन्त मेघों के गर्जन के सदृश दूर-दूर तक फैल गई। अरिष्टनेमि ने इन्द्रधनुष धारण किया और अजस्र बाणों की वर्षा से उन्होंने समर भूमि को जलप्लावन की भाँति आप्लावित कर दिया।

अरिष्टनेमि के समक्ष मागधी सैन्य का कोई महारथी टिक नहीं सका। कुछ ठहर कर उनसे युद्ध करना तो दूर, कोई उनकी ओर आंख उठाकर देखने का सामर्थ्य भी नहीं जुटा पाया। एक उफनती हुई सरिता जिस प्रकार मार्ग में आने वाले घास-फूँस को बहा ले जाती है, उसी प्रकार अरिष्टनेमि की भीषण बाण वर्षा के सामने शत्रु पक्ष के हजारों और लाखों भट, सुभट और महारथी बहकर कहाँ चले गये—कौन जाने?

यदि अरिष्टनेमि चाहते तो वे जरासन्ध को भी क्षणमात्र में ही भस्म कर देते। उनके एक दृष्टि निक्षेप का ही प्रश्न था।

किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उसके समस्त सैन्य को छिन्न-भिन्न करके उन्होंने जरासन्ध को कृष्ण के लिए छोड़ दिया, क्योंकि प्रतिवासुदेव की मृत्यु वासुदेव के हाथों ही होनी चाहिए।

अपना यह अद्भुत पराक्रम कुछ ही समय में अरिष्टनेमि ने दिखाया और फिर सारथि से कहा—

"अब मेरा रथ मोड़ लो, मातलि! शेष कार्य तो भाई कृष्ण का है।"

जरासन्ध की स्थिति अब बहुत दयनीय हो गई थी। अरिष्टनेमि की अपौरुषेय शक्ति ने उसकी कमर तोड़ दी थी। वह अब हताश हो चला। इसी हताशा की स्थिति में उसने अपनी जराविद्या का प्रयोग कर समस्त यादव सैन्य को वृद्ध बना दिया। वृद्ध बने सैनिक निर्बल हो गये और शस्त्र उनके हाथ से छूट-छूटकर गिरने लगे। जरासन्ध का यह अन्तिम शस्त्र था।

अपनी सेना का यह हाल देखकर कृष्ण का चिन्तित होना स्वाभाविक था। उन्होंने काफी विचार किया कि किस उपाय से इस विपत्ति से छुटकारा पाया जाय, किन्तु उन्हें कोई उपाय उस समय सूझा ही नहीं। अतः अरिष्टनेमि को सर्वसमर्थ जानकर उन्होंने उन्हीं से पूछा—

"भैया! जरासन्ध ने यह तो समस्या खड़ी कर दी। उसका अपना ठिकाना तो खैर कर दिया जायगा, किन्तु हमारे ये सब सैनिक यदि वृद्ध ही रह गये तो इनके परिवार बड़ा कष्ट पायेंगे। कोई उपाय बताओ।"

अरिष्टनेमि ने ऐसा उपाय बताया जिससे एक क्षण में सभी सैनिक पूर्ववत् जरामुक्त एव शक्तिशाली होकर मागध-सैन्य से युद्ध करने लगे।

अब जरासन्ध के धीरज का बाँध टूट गया। वह कृष्ण के सामने आकर उन्हें ललकारता हुआ कहने लगा—

"ओ ग्वाले, अब तू बच सकता हो तो मुझसे बच लेना। बहुत माया फैला चुका है तू। अब मेरे सामने तेरी कोई माया नहीं चलेगी। तूने माया का जाल फैलाकर ही मेरे पुत्र कालकुमार के प्राण लिये थे। अब मैं तेरे प्राण लेकर अपनी पुत्री जीवयशा की प्रतिज्ञा पूर्ण कराऊँगा।"

जरासन्ध के इस प्रकार के वचन सुनकर कृष्ण ने हँसते हुए कहा—

"हाँ, राजा जरासन्ध, जीवयशा की प्रतिज्ञा तो अब अवश्य पूर्ण होगी। किन्तु अपनी प्रतिज्ञा उसे अग्नि में भस्म होकर ही पूर्ण करनी

होगी। दूसरा कोई उपाय तो है नहीं। आप मुझसे युद्ध करना चाहते हैं, तो वह कर लीजिए। मैं प्रस्तुत हूँ।"

इस प्रकार कृष्ण और जरासन्ध का भीषण युद्ध आरम्भ हो गया। पृथ्वी, आकाश और समुद्र सभी इस महाभयंकर युद्ध के कारण मानो त्राहि-त्राहि कर उठे। धीरे-धीरे जरासन्ध के सभी शस्त्र कृष्ण ने नष्ट कर दिये। तब जरासन्ध को अपने अमोघ अस्त्र चक्ररत्न का स्मरण आया। स्मरण करते ही चक्र उपस्थित भी हो गया। जरासन्ध ने उस चक्र को घुमाकर बड़े वेग से कृष्ण पर छोड़ दिया।

वह अमोघ चक्र जब कृष्ण की ओर बढ़ा तब पाण्डवों सहित यादव सैन्य के सभी महारथियों ने उसे रोकने या काट गिराने का भरसक प्रयत्न किया। किन्तु वह दुर्निवार अमोघ चक्र किसी के रोके नहीं रुक सका। वह कृष्ण के समीप पहुंच ही गया। समस्त यादवकुल चिन्तामग्न हो गया।

किन्तु वह चक्र कृष्ण तक पहुंचा, उसने उनके वक्षस्थल का स्पर्श भी किया, लेकिन उससे कोई हानि उन्हें नहीं हुई। किसी पुष्प के कोमल स्पर्श के समान ही वह कृष्ण को छूकर उनके हस्त-स्पर्श की सीमा में स्थित हो गया। कृष्ण ने उसे अपने हाथ में ले लिया। यह देखकर आकाश से देवतागण कृष्ण की जय-जयकार करते हुए उन पर पुष्प-वृष्टि करने लगे और घोषणा करने लगे—

"भरतक्षेत्र में नवम वासुदेव उत्पन्न हो गए हैं। इन नवम वासुदेव की जय!"

उस चक्र रत्न को हाथ में लेकर कृष्ण ने अन्तिम बार जरासन्ध को शिक्षा देते हुए कहा—

"महाराज जरासन्ध! आप वयोवृद्ध हैं। जाइये, अब भी राजगृही लौट जाइये तथा नीति एवं न्यायपूर्वक प्रजा का पालन कीजिए। यदि आप अब भी समझ जाएं तो मैं आपका वध नहीं करना चाहता।"

किन्तु जरासन्ध नहीं माना।

कृष्ण को वह चक्र चलाना ही पड़ा।

और इस प्रकार महाबलशाली प्रतिवासुदेव मगधेश्वर जरासन्ध वासुदेव कृष्ण के हाथों मृत्यु को प्राप्त हुए और चतुर्थ नरक में अपने किए पापकर्मों का फल भोगने हेतु चले गये। ❀

[८]

वह युद्ध महाविनाश की लीला दिखाकर समाप्त हुआ।

उस युद्ध में हजारों मागधी सैनिक तथा अन्य राजागण बन्दी बन चुके थे। अरिष्टनेमि दया और क्षमा के अवतार थे। उन्होंने उन सभी सैनिकों तथा राजागण को बन्धनमुक्त कर दिया। वे सभी प्रसन्न तथा अरिष्टनेमि के प्रति कृतज्ञ होकर बोले—

"हे भगवन्! हम अब जान गए हैं कि आप यदुवंश के भूषण हैं तथा लोक-कल्याण के लिए ही इस धराधाम पर अवतरित हुए हैं। हम आपकी शरण में हैं। इस संसार में आप सभी जीवों के निष्कारण बन्धु एवं त्राता हैं। अपने मगल की कामना से अब हम आपके आज्ञानुवर्ती हैं।"

अरिष्टनेमि उन सभी सैनिकों तथा राजाओं को ढाढ़स बँधाकर उन्हें कृष्ण के पास ले गए और बोले—

"भैया! इन सभी लोगों को पश्चात्ताप है। इन्होंने जो कुछ भी किया वह विवशता में भाग्य के लेख के परिणामस्वरूप ही किया। अतः आप इन्हें क्षमादान दें।"

कृष्ण अरिष्टनेमि की बात को कैसे टाल सकते थे? उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक उन सभी को क्षमा कर दिया तथा जरासन्ध के पुत्र सहदेव को मगध देश का चतुर्थांश देकर उसे वहाँ का राजा बना दिया। कृष्ण की इस उदारता के लिए सहदेव सदा-सदा के लिए उनका ऋणी बन गया।

युद्धभूमि में अब अधिक समय तक ठहरने का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा था। अतः अरिष्टनेमि ने मातलि को आज्ञा देकर रथ सहित उसे स्वर्ग लौट जाने दिया।

उसी समय वसुदेव भी प्रद्युम्नकुमार तथा शाम्बकुमार के साथ वैताढ्य पर्वत की ओर से शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके लौट आए। यादव पक्ष में पूर्ण प्रसन्नता व्याप्त हो गई।

युद्ध में मृत्यु को प्राप्त सभी लोगों की उत्तरक्रिया विधिपूर्वक कर दी गई।

जीवयशा को अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने हेतु अग्नि में प्रवेश करना पड़ा।

यह महायुद्ध जिस स्थान पर हुआ था वहां से कुछ ही दूरी पर श्रीकृष्ण ने शंखपुर नामक एक नया नगर बसाया।

कुछ समय तक उसी स्थान पर रहकर उन्होंने अर्धभरत को अपने अधिकार में कर लिया। वे नौवें वासुदेव हैं, यह तथ्य उस समय प्रमाणित हो गया जब कृष्ण ने मगध देश में जाकर कोटिशिला नामक एक महा-शिला को पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर उठा लिया। वह महाशिला एक योजन लम्बी और एक योजन चौड़ी थी। किसी वासुदेव के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति उस शिला को तनिक भी हिला तक नहीं सकता था।

अतः कृष्ण अर्धभरत के चक्रवर्ती सम्राट बन चुके थे और वे नौवें वासुदेव हैं यह तथ्य भी संसार पर उजागर हो गया था।

अपने इस अद्भुत पराक्रम प्रदर्शन के पश्चात् कृष्ण समस्त यादव-कुल के साथ द्वारिका नगरी लौट आए।

बड़ी धूमधाम के साथ श्रीकृष्ण का वासुदेव के पद पर अभिषेक किया गया।

समय शान्ति और सुखपूर्वक व्यतीत होता रहा।

× × ×

अरिष्टनेमि अब पूर्ण युवा हो चुके थे। उनका सौन्दर्य दर्शनीय था। उनकी नीलवर्णी देह अत्यन्त मनमोहक थी और एक अलौकिक भव्यता उनके मुखारविन्द पर दिखाई देती थी। उस भव्यता तथा दिव्यता में सौन्दर्य, तेज एवं कान्ति का एक ऐसा सम्मिश्रण था कि देखने वाले एकटक देखते ही रह जाते। उनके दर्शन मात्र से देखने वालों को अपने मन में शान्ति का अनुभव होता था। अरिष्टनेमि एक हजार आठ शुभ लक्षणों के धारक थे। वज्रऋषभनाराच संहनन तथा समचतुस्र संस्थान के भी वे धारक थे। उनका उदर मत्स्याकृति था। वे दस धनुष प्रमाण लम्बे थे एवं उनका स्वर अत्यन्त मधुर था।

इस दिव्य शारीरिक शोभा के साथ-साथ उनका आन्तरिक सौन्दर्य भी अद्भुत था। उदारता, क्षमा, दया इत्यादि गुण उनके हृदय में सहज ही निवास करते थे। वे एक राजकुमार थे और कृष्ण जैसे प्रतापी सम्राट के

अनुज थे। स्वयं भी अद्वितीय वीर पुरुष थे। किन्तु यह सब होते हुए भी उनमें अभिमान जैसी कोई भावना नहीं थी। राजकीय वैभव उनके लिए तृणवत् था। उनकी वीरता, धीरता, ज्ञान-गरिमा, योग्यता देख-देखकर लोग विस्मित हो जाया करते थे। उनका विवेक, विचारशीलता, शिष्टता तथा गाम्भीर्य ऐसा था कि वे सभी को प्रिय लगते थे।

एक दिन की बात है—वे अपने संगी-साथियों के साथ कृष्ण की आयुधशाला में जा पहुंचे। आयुधशाला के संरक्षक ने उन्हें सारी आयुध-शाला दिखलाई, सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र दिखलाये और कहा—

"प्रभु! ये वासुदेव कृष्ण के शस्त्र हैं। ये शस्त्र इतने शक्तिशाली हैं कि कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति इनका प्रयोग करना तो क्या, इन्हें उठा भी नहीं सकता।"

आयुधशाला के रक्षक की यह बात सुनकर अरिष्टनेमि ने कृष्ण के सूर्य के समान तेजस्वी सुदर्शन चक्र को सहज ही उठाकर अपनी एक अंगुली पर ऐसे घुमा दिया जैसे कोई कुम्भकार अपने चाक को सरलता से घुमाता है। कृष्ण का विख्यात, शार्ङ्ग धनुष भी वहाँ था। उसे उठाकर उन्होंने ऐसे मोड़ दिया जैसे कोई व्यक्ति सुकोमल कमलनाल को मोड़ दे। कृष्ण की महाभीषण कौमुदी गदा को तिनके की भांति उठाकर उन्होंने घुमा दिया।

इतना ही नहीं, अरिष्टनेमि ने कृष्ण के पांचजन्य शंख को भी उठा-कर इतने जोर से फूंका कि सारी द्वारिका नगरी भय से काँप उठी। उस तीव्र ध्वनि को सुनकर स्वयं कृष्ण चौंक पड़े तथा विस्मित होकर सोचने लगे कि यह क्या हुआ? मेरे पांचजन्य शंख को उठा सके और इतने जोर से उसे फूँककर ऐसी भयावह ध्वनि निकाल सके, ऐसा परमवीर कौन कहाँ से आ गया? क्या मेरे अतिरिक्त अन्य कोई अर्ध चक्रवर्ती उत्पन्न हो गया है? अथवा मेरी आयुधशाला में कोई प्रतापी शत्रु पहुंच गया है?

यह विचार आते ही वे शीघ्रतापूर्वक अपनी आयुधशाला की ओर दौड़े। वहाँ जाकर उन्होंने अरिष्टनेमि को देखा और प्रश्न किया—

"नेमिकुमार! अभी-अभी मैंने पांचजन्य की विकट ध्वनि सुनी है। किसका साहस है, किसमें इतनी शक्ति है कि वह मेरे पांचजन्य को फूँक सका?"

कृष्ण का प्रश्न सुनकर अरिष्टनेमि तो मधुर मुस्कान बिखेरे रहे, किन्तु आयुधशाला के रक्षक ने बताया—

"महाराज ! आपके पांचजन्य शंख को इन नेमिकुमार ने ही फूंका है। तथा आपके अन्य शस्त्रों को भी राजकुमार नेमिकुमार ने इतनी सरलता से उठाया और घुमाया-फिराया है कि जैसे कोई बालक कन्दुक-क्रीड़ा कर रहा हो।"

यह जानकर कृष्ण प्रशंसाभाव से अरिष्टनेमि को देखते ही रह गए। अरिष्टनेमि में इतना प्रचण्ड बल है, इसकी उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी। उन्होंने अरिष्टनेमि से कहा—

"अनुज नेमिकुमार ! तुम विशिष्ट पुरुषार्थी हो, यह तो मैं जानता था; किन्तु आज देखता हूँ कि तुम में तो पुरुषार्थ की पराकाष्ठा है। तुम जैसे वीर, धीर और परम पुरुषार्थी अनुज को पाकर मैं प्रसन्न हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम अब मुझे अपना भुजबल भी दिखाओ। क्या तुम मेरे साथ बाहुयुद्ध करोगे ?"

कृष्ण के इस प्रस्ताव पर अरिष्टनेमि फिर मुस्कराये और उन्होंने उत्तर दिया—

"भैया ! आपका प्रस्ताव मुझे स्वीकार है, क्योंकि आप मेरा भुजबल देखना चाहते हैं। किन्तु हम दोनों बाहुयुद्ध करें और साधारण मनुष्यों की भाँति भूमि पर लोटें यह हमें शोभा नहीं देगा। अतः ऐसा क्यों न करें कि हम दोनों एक दूसरे की भुजा को झुकाने का प्रयत्न करें। आपके और मेरे भुजबल की परीक्षा तो इसी से हो जायेगी।"

वास्तविकता यह थी कि अरिष्टनेमि ने कृष्ण के प्रस्ताव को सुनकर अपने मन में यह विचार किया था कि बाहुयुद्ध में यदि मैं कृष्ण को अपनी भुजाओं से, पैरों से, अथवा छाती से दबाऊँगा तो उनकी जाने क्या हालत हो ? अपने भाई के प्रति उनके हृदय में प्रगाढ़ प्रेम था। वे उन्हें कोई कष्ट नहीं देना चाहते थे। इसी भावना से उन्होंने केवल एक-दूसरे की भुजा को झुकाने का प्रस्ताव अपनी ओर से रखा था।

कृष्ण ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

पहले कृष्ण ने ही अपनी विशाल, बलशाली भुजा को ऊँचा उठाकर अरिष्टनेमि से कहा—

"लो, मेरी इस भुजा को नीचे झुकाओ तो सही।"

अरिष्टनेमि ने कृष्ण की अतुल सामर्थ्य वाली उस भुजंग भुजा को अपनी एक ही भुजा से इतनी सरलता से नीचे झुका दिया जैसे कोई कोमल

कमलनाल को झुका दे। यह देखकर कृष्ण विस्मित रह गये। उनका विचार था कि मेरी इस समर्थ भुजा को झुकाने का सामर्थ्य तो इस पृथ्वी पर किसी मानव का हो ही नहीं सकता।

इस प्रकार विस्मय में डूबे हुए कृष्ण ने तब अरिष्टनेमि से कहा—

"अद्भुत बात है कि तुम मेरी भुजा को इतनी सरलता से झुका सके। मैं ऐसी कल्पना तक नहीं करता था। अच्छा, अब तुम अपनी भुजा उठाओ मैं भी देखूँ तो सही।"

अरिष्टनेमि ने अपनी भुजा ऊपर उठा दी।

कृष्ण ने अपना एक हाथ बढ़ाकर उस भुजा को झुका देना चाहा। किन्तु वह हिली तक नहीं। तब उन्होंने दोनों हाथों से प्रयत्न किया, किंतु परिणाम वही का वही। आश्चर्य और सम्भवतः थोड़ी-सी खीझ के साथ, कृष्ण ने अपना समस्त बल अरिष्टनेमि की उस प्रचण्ड, शक्तिशाली भुजा को झुकाने में लगा दिया। किंतु वह भुजा तो तनिक भी झुकी नहीं, उल्टे श्रीकृष्ण महाराज स्वयं ही उस भुजा पर इस प्रकार झूल गये जैसे कोई वानर किसी वृक्ष की शाखा पर झूल जाता है।

यह स्थिति देखकर कृष्ण ने अरिष्टनेमि से कहा—

"प्रिय भाई! यह तो अद्भुत बात हुई। मुझे अपने बल का अभिमान तो नहीं, ज्ञान अवश्य है। भैया बलराम मेरी इस शक्ति पर फूले-फूले फिरते हैं और इस संसार को तुच्छ समझते हैं। किंतु अब तो मैं स्वयं तुम्हारे इस अलौकिक सामर्थ्य को देखकर चकित हूँ, प्रसन्न हूँ और संसार को तृणवत् समझता हूँ। आओ अब चलें। बलदाऊ को मैं यह सूचना तत्काल देना चाहता हूँ। अन्यथा वे मेरे इस पांचजन्य की इस प्रचण्ड ध्वनि को सुनकर क्रोधित होकर कहीं से दौड़े आते होंगे।"

कृष्ण के इस कथन के बाद वे लोग आयुधशाला के द्वार की ओर चल पड़े।

वे द्वार तक पहुँचे ही थे कि आँधी-तूफान की तरह गरजते हुए बलराम उन्हें सामने ही मिल गये। वे कह रहे थे, पूछ रहे थे, आश्चर्य कर रहे थे कि कौन है जिसने कृष्ण के पांचजन्य को तीव्र ध्वनि से फूंका है? किसका साहस है? किसकी शक्ति है?

किन्तु जब उन्होंने स्वयं श्रीकृष्ण को और अरिष्टनेमि को आयुध-

शाला में से बाहर आते हुए देखा तो वे कुछ आश्वस्त हुए। फिर भी उन्होंने कृष्ण से पूछा—

"कृष्ण ! यह तुम्हारा पांचजन्य क्या तुम्हीं ने फूँका था ? लेकिन यह कैसे हो सकता है ? इसकी क्या आवश्यकता आ पड़ी थी ? और इतनी तीव्रता से, इतना विकट घोष करते हुए तो इससे पूर्व कभी तुमने उसे नहीं फूँका था।"

प्रश्न सुनकर मधुर मुस्कान बिखेरते हुए कृष्ण ने बलराम को बताया—

"भैया ! आखिर आप दौड़े चले ही आए। मैं जानता था और अरिष्टनेमि से कह ही रहा था कि इस घोष को सुनकर बलदाऊ को चैन नहीं पड़ने वाला। लेकिन आप चिन्तित न हों। आज तो मेरा पांचजन्य भैया अरिष्टनेमि ने खेल-खेल में फूँका है।"

"क्या ? इस अरिष्टनेमि ने शख फूँका है ? आश्चर्य ! तुम्हारे पांचजन्य को उठाकर इतनी शक्ति के साथ फूँक सके, उसमें से इतनी प्रबल ध्वनि निकाल सके इतनी शक्ति है इसमें ?"

"हाँ, भैया ! इसमें इतनी ही नहीं, इससे भी अधिक शक्ति है। मैं जब यहाँ आया और देखा कि इसने मेरे पांचजन्य को फूँका है, तो मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। फिर मैंने इसकी शक्ति की और अधिक परीक्षा करने के लिए इससे जब बाहुयुद्ध का प्रस्ताव रखा तो इसने मेरे प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। फिर जानते हैं भैया कि क्या हुआ ?"

"कैसे जानूँगा ? तुम्हीं बताओ।"

"बताता हूँ। इसने मेरे साथ कुश्ती लड़ने के बजाय एक-दूसरे की भुजा को नीचे झुकाने का प्रस्ताव रखा। मैंने भी स्वीकार कस लिया। पहले मैंने अपनी भुजा उठाई और इसे कहा कि उसे झुकाकर तो देखे। तब जानते हैं कि क्या हुआ ?"

"फिर वही बात ? मैं कैसे जानूँगा कि क्या हुआ ?"

"अरे हाँ, आप कैसे जानेंगे ? मैं ही बताता हूँ। हुआ यह कि इसने मेरी प्रचण्ड भुजा को इस प्रकार सहज भाव से नीचे झुका दिया कि जैसे कोई मल्ल किसी बालक की भुजा को मोड़ दे। और फिर ? फिर आप जानते हैं क्या हुआ ?"

"कृष्ण ! तू मुझे चिढ़ाने से बाज नहीं आएगा ? शीघ्र बता कि फिर क्या हुआ ?"

"अरे भैया, फिर इस अरिष्टनेमि ने अपनी भुजा ऊपर उठाकर मुझसे कहा कि मैं उसे झुका दूँ। मैं झुकाने लगा। किन्तु आप जानते हैं फिर"""""मेरा मतलब है भैया, कि मैंने पहले धीरे से, फिर अपना सम्पूर्ण बल लगाकर इसकी भुजा को झुकाने का प्रयत्न किया, किन्तु इसकी भुजा तो मुझसे हिली तक नहीं"""""।"

"क्या कह रहे हो कृष्ण ? हँसी कर रहे हो ? तुम से इस अरिष्टनेमि की भुजा हिली तक नहीं ? तुम इसकी भुजा को झुका नहीं सके ?"

"हाँ भैया बलदाऊ, हँसी नहीं कर रहा, सत्य कह रहा हूँ। और मुझे यह बताते हुए हँसी भी आ रही है कि इसकी भुजा को झुकाने के प्रयास में मैं अपनी दोनों बाहों के सहारे इसकी एक ही भुजा पर लंगूर के समान लटक गया। बड़ा मजा आया भैया ! बहुत दिनों बाद झूला झूलने को मिला आज।"

यह कहकर कृष्ण बहुत जोर स हँसे। उनके साथ बलदाऊ और अरिष्टनेमि भी हंसने लगे।

अनुचर दूर-दूर खड़े थे। अन्यथा प्रिय बन्धुओं के इस आनन्ददायी मुक्त हास्य में वे भी अवश्य सम्मिलित हो जाते।

निश्छल हंसी और निर्मल आनन्द भाव के साथ तीनों भाई अपने-अपने आवासों की ओर चलने को उद्यत हुए। अरिष्टनेमि अपने आवास की ओर जब मुड़ गए तब कृष्ण ने बलराम से कहा—

"भैया ! इस अरिष्टनेमि में तो अद्भुत, अतुल बल है। इसके समान बलशाली तो अपरिमित बल धारण करने वाले चक्रवर्ती और इन्द्र भी नहीं होते। जब ऐसा है तो यह समस्त भरत के छहों छण्डों को विजित कर सकता है"""""।"

कृष्ण के इस कथन में अवश्य ही कहीं कोई आशंका का भाव रहा होगा। बलराम ने उत्तर दिया—

"लगता है तुम्हारे मन में कहीं कोई शंका उत्पन्न हो रही है। किंतु वह निर्मूल है, कृष्ण ! यह अरिष्टनेमि अवश्य ही चक्रवर्ती और इंद्र से भी अधिक शक्तिशाली है, किंतु स्वभाव इसका पूर्णतः शांत और प्रेममय है।

शंकित न होओ। राज्यलिप्सा जैसी भावना इसके हृदय में कहीं स्थान पा ही नहीं सकती।"

बलदाऊ के इस कथन के बाद कृष्ण मौन रहकर चलने को हुए कि उसी समय आकाशवाणी हुई—

"भगवान अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर है। ये राज्य नहीं भोगेंगे और बिना विवाह किये ब्रह्मचर्यावस्था में ही प्रव्रजित होंगे।"

यदि श्रीकृष्ण के मन में अरिष्टनेमि की अपरिमित शक्ति को देखकर क्षण भर के लिए भी कोई संदेह पैदा हुआ था तो वह अब बलदाऊ के इस कथन और आकाशवाणी को सुनकर समाप्त हो गया।

× × ×

श्रीकृष्ण नेमिकुमार को बहुत प्यार करते थे। वे चाहते थे कि नेमिकुमार का मन सांसारिक भोगोपभोगों की ओर आकृष्ट हो और वे अन्य राजकुमारों की भाँति सुख का जीवन व्यतीत करें। विवाह करें और संसार-सुख का उपभोग करें। इस उद्देश्य से उन्होंने नेमिकुमार को अपने सभी अंतःपुरों में स्वतंत्रतापूर्वक आने-जाने की अनुज्ञा प्रदान की। वे जानते थे कि नेमिकुमार पूर्णतः निर्विकार हैं, अतः किसी प्रकार का अवांछित आचरण उनके द्वारा हो इसकी तो कोई सम्भावना ही नहीं थी। उद्देश्य था कि उनका मन ससार की ओर आकृष्ट हो।

नेमिकुमार कृष्ण के आदेश और इच्छानुसार उनके अंतःपुरों में आने-जाने लगे। अपनी सभी भाभियों के साथ वे प्रसन्न भाव से खाते-पीते तथा क्रीड़ा करते हुए आनन्दपूर्वक समय व्यतीत करने लगे। किंतु उनका मन पूर्ववत् ही रहा। अर्थात्, उनके मन से बसा हुआ निर्विकार, निस्संग भाव यथावत् बना रहा। उसमें आसक्ति नामक भाव का लेश मात्र भी प्रवेश नहीं हो सका।

यह देखकर कृष्ण फिर चिंतित रहने लगे। वे चाहते थे कि उनका भाई दाम्पत्य जीवन को स्वीकार करके सुखी जीवन व्यतीत करे। किंतु नेमिकुमार तो इस दिशा में झाँकते भी दिखाई नहीं देते थे। सोचते-सोचते उन्होंने एक दिन अपनी रानियों से कहा—

"मुझे अरिष्टनेमि की चिंता सताने लगी है। पूर्ण यौवन में प्रवेश कर जाने के उपरांत भी वह विवाह के विषय में कभी कोई रुचि प्रदर्शित

करता ही नहीं। सर्वथा उदासीन ही बना रहता है। मैं चाहता हूँ कि उस का मन भोगों की ओर आकृष्ट हो और वह किसी सुन्दर राजकुमारी से विवाह करके सुखी सांसारिक जीवन व्यतीत करे। तुम लोग कुछ ऐसा प्रयत्न करो कि अरिष्टनेमि भोग के जीवन की ओर आकृष्ट हो।"

सभी रानियों ने कृष्ण की बात ध्यान से सुनी। वे सब भी हृदय से यही चाहती थीं। अरिष्टनेमि जैसा देवर सभी को अत्यन्त प्रिय था। अतः रुक्मिणी, सत्यभामा तथा अन्य सभी रानियों ने कृष्ण की बात सुनकर कहा—

"आपका विचार उत्तम है। वस्तुतः हम सब भी ऐसा ही चाहती हैं। अतः अब आप देखते रहिये कि हम क्या करती हैं। रमणियाँ तो बड़े योगियों को भी योग मार्ग से विचलित कर भोग मार्ग पर सिर के बल लुढ़का सकती हैं। हम क्या कम हैं? हम अपने प्रिय देवर को समझा-बुझा-कर और भोगों की ओर आकृष्ट करके उसे विवाह करने के लिए अवश्य ही सहमत कर लेंगी।"

यह सुनकर कृष्ण थोड़े से आश्वस्त हुए। निश्चिन्त तो फिर भी नहीं हो सके, क्योंकि वे जानते थे कि हिमालय को हिलाया जा सकता है, किन्तु अरिष्टनेमि जैसे दृढ़ चरित्र वाले परम पुरुषार्थी महामानव को डिगाना सरल तो नहीं है। सम्भवतः आशक्य ही है। उन्होंने इतना ही कहा—

"ठीक है। तुम लोग अपना पूरा प्रयत्न करो।"

कृष्ण की रानियों ने आपस में सलाह करके रेवताचल पर्वत पर एक आयोजन रखा। बसन्त की मादक ऋतु थी। प्रकृति में उल्लास और आनन्द, शोभा और सौन्दर्य बिखरा हुआ था। ऐसे वातावरण में बसन्तो-त्सव आयोजन किसे प्रिय नहीं लगेगा? कृष्ण के आग्रह पर नेमिकुमार को भी इस आयोजन में सम्मिलित होना पड़ा। कृष्ण और उनकी रानियों के साथ वे भी रेवताचल पर गये।

सुगंधित रंगीन जल की पिचकारियाँ भर-भर कर रानियों ने कृष्ण और नेमिकुमार पर बरसाना आरम्भ किया। अन्य अनेक प्रकार के हाव-भावों द्वारा भी रानियों ने प्रयत्न किया कि नेमिकुमार इस प्रकार की क्रीड़ा में अपने सम्पूर्ण मन से डूब जायं। किन्तु नेमिकुमार का मन विरागी ही बना बना रहा। विवश होकर वे एक दो बार अपनी ओर से जल के कुछ छींटे

कृष्ण और रानियों पर अवश्य छिटक देते किन्तु फिर अपने में ही कहीं खो जाते।

यह फाग बहुत देर तक खेला जाता रहा।

इसके बाद सरोवर-स्नान भी हुआ। रानियों ने नेमिकुमार को जल में खींचकर पुनः उन्हें आकृष्ट करने का प्रयत्न किया। नाना प्रकार के हाव-भाव-संकेतों का आश्रय लिया।

जल-क्रीड़ा के उपरान्त सुन्दर वस्त्रालंकारों को धारण कर तीक्ष्ण कटाक्षपातों के सहारे रानियों ने नेमिकुमार को नारी सौन्दर्य की ओर मोहित करने का भी प्रयत्न किया।

वे जो-जो कुछ कर सकती थीं, वह सब कुछ उन्होंने कर लिया।

एक ही दिन नहीं, बहुत समय तक, निरन्तर वे लोग नेमिकुमार को संसार-मोह में डालने का प्रयत्न करती रहीं।

किन्तु उनके हाथ लगी मात्र असफलता। निर्विकार नेमिकुमार निर्लेप ही बने रहे।

संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियां, कृष्ण की रमणीय रानियाँ, नेमिकुमार को अपनी रूप राशि तथा भाव-भंगिमाओं से मोहित नहीं कर सकीं।

किन्तु वे निराश नहीं हुई। अब उन्होंने नेमिकुमार को सीधे-सीधे समझाने का प्रयत्न आरम्भ किया। सत्यभामा ने नेमिकुमार को अपने पास बैठाकर कहा—

"देवर जी! आपको हुआ क्या है? देखिए आपके भाई की तो हम सोलह हजार रानियाँ हैं। वे कितने प्रसन्न हैं? हम भी नित्य आनन्द के सागर में डूबती-उतराती रहती हैं। आप भी युवा हैं। सुन्दर हैं। आपके सौन्दर्य की तो तीनों लोकों में कहीं कोई उपमा ही नहीं है। कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। फिर आप एक भी सुन्दरी से विवाह करने के लिए तैयार क्यों नहीं होते हैं?"

रुक्मिणी ने तर्क प्रस्तुत किया—

"देवर जी! बिना जीवन-संगिनी के मनुष्य का जीवन अपूर्ण है। आप इस प्रकार एकाकी जीवन कब तक व्यतीत करते रहेंगे? जहाँ तक

धर्म की आराधना अथवा तपश्चरण का प्रश्न है, भगवान् ऋषभदेव ने भी पहले विवाह किया था उसके बाद ही धर्मतीर्थ की स्थापना की। इसी प्रकार आपके ही वंश में मुनिसुव्रत तीर्थंकर हुए हैं। उन्होंने भी पहले विवाह किया था तत्पश्चात् ही उन्होंने मुनि जीवन अंगीकार किया। इसी प्रकार भविष्य में आने वाले तीर्थंकर भी पहले विवाहित होंगे। अतः आप हम सब की बात मान लीजिए। आपके माता-पिता, भाई-बन्धु सभी आप को कितना समझाते हैं, किंतु आप किसी की बात पर ध्यान नहीं देते। यह क्या उचित है ?"

इसी प्रकार अन्य रानियों ने भी नेमिकुमार को बहुत समझाया-बुझाया। अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए, अनेक तर्क दिए। इतने पर भी जब वे टस से मस नहीं हुए तो वे सब खीझ उठीं। किसी ने तो यहाँ तक कि कह दिया यदि ये अब सीधे से नहीं मानते तो जब तक ये अपनी स्वीकृति नहीं दे देते तब तक इन्हें बन्दी बनाकर किसी कक्ष में छोड़ दिया जाय।

यह सुनकर नेमिकुमार को हँसी आ गई। उनकी इस हँसी से रानियाँ और भी अधिक खीझ उठीं। किंतु रुक्मिणी ने धैर्य से काम लेने में ही औचित्य समझा और वह कहने लगी—

"बहनो ! हमारे देवर जी हमारी परीक्षा लेना चाहते हैं। ये देखना चाहते हैं कि हम इनकी खुशामद करने में किस सीमा तक जा सकती हैं। तो लो भई, हम इनके चरणों में गिरकर इनसे प्रार्थना करते हैं कि ये अपने विवाह के लिए स्वीकृति दे दें।"—यह कहकर रुक्मिणी ने सचमुच ही नेमिकुमार के चरणों में अपना शीष झुका दिया। उसका अनुगमन करते हुए अन्य सभी रानियाँ भी उनके चरणों में झुक गयीं।

यह देखकर नेमिकुमार को बहुत संकोच हुआ। भाभी तो माता के समान होती है। माता के समान भाभियों को अपने चरणों में गिरा हुआ वे कैसे देख सकते थे ?

ठीक उसी समय कृष्ण भी वहाँ आ गये। यह अद्भुत दृश्य देखकर वे मुस्कराए और उन्होंने नेमिकुमार से कहा—

"भाई, अब और किस-किस से, कितनी-कितनी प्रार्थना करवाओगे ? अब तो तुम विवाह करने के लिये प्रस्तुत हो ही जाओ। हम सभी लोग ऐसा ही चाहते हैं। सभी लोगों को इस प्रकार निराश मत करो। तुम्हारे विवाह कर लेने से माता-पिता, भाई-बन्धु सहित समस्त यादवकुल को परम प्रसन्नता होगी।"

नेमिकुमार अब विवश हो गए। उन्होंने मन में तो यही विचार किया कि ये सभी लोग मोहांध हैं। व्यर्थ ही मुझे भवसागर के चक्र में फँसाना चाहते हैं। किंतु अब क्या किया जाय ? यही ठीक है कि इन लोगों की प्रसन्नता के लिए इस समय तो केवल वचन मात्र से इनके कथन को स्वीकार कर लेना चाहिए, फिर समय आने पर तो जो करणीय है वही किया जायेगा.....।

यह विचार करके नेमिकुमार ने कह दिया—"ठीक है, जैसा आप लोग ठीक समझें।"

नेमिकुमार के इस कथन को अंततः उनकी स्वीकृति मान लिया गया और सभी लोग प्रसन्न हो गए। द्वारिका नगरी में उल्लास की एक लहर व्याप्त हो गई।

अब नेमिकुमार के योग्य किसी सुन्दर कुलीन कन्या की खोज जोर-शोर से आरम्भ हो गई।

उस समय भरतखण्ड में गुणवती, शीलवती, सुन्दरी कन्याओं की कोई कमी नहीं थी। एक से बढ़कर एक कन्याएँ श्रीकृष्ण की दृष्टि में थीं। किंतु पुरुषों में श्रेष्ठतम रत्न के समान अरिष्टनेमि के योग्य कोई श्रेष्ठतम कन्या उन्हें समझ में नहीं आ रही थी। उसी समय सत्यभामा ने सुझाव प्रस्तुत किया—

"हे नाथ ! मेरी बहन राजीमती (राजुल) अभी अविवाहिता है। मैं उसके रूप और रूप से भी बढ़कर गुणों की प्रशंसा कैसे करूँ ? आप स्वयं ही जानते तो होंगे ही। अतः यदि आप उचित समझें तो हमारे देवर जी की जीवनसंगिनी के रूप में उसका चयन करें।"

श्रीकृष्ण को यह सुझाव एकदम रुच गया। उन्होंने सत्यभामा को उत्तर दिया—

"तुमने सचमुच मेरी समस्या का समाधान प्रस्तुत कर दिया है। आश्चर्य है कि मुझे अब तक राजीमती का ध्यान क्यों नहीं आया था ? अब तुमने ध्यान दिलाया है तो सोचता हूँ कि वह तो नेमिकुमार के लिए ही बनी है। यह तो स्वर्ण और सुरभि का संयोग हो जायगा। मैं आज ही महाराज उग्रसेन से नेमिकुमार के लिए राजीमती की माँग करूँगा।"

जब श्रीकृष्ण ने राजन्य उग्रसेन के समक्ष उनकी कन्या के सम्बन्ध

मैं अपना प्रस्ताव रखा तो उग्रसेन आनंदित हो गए। उन्होंने सहर्ष अपनी स्वीकृति प्रदान करते हुए कहा—

"यह तो मेरा और मेरी राजुल का परम सौभाग्य है। नेमिकुमार के समान पुरुषोत्तम उसे वर के रूप में प्राप्त होंगे तो उसका जीवन धन्य हो जायेगा।"

इस प्रकार विवाह निश्चित हो गया। विवाह की तिथि श्रावण शुक्ला षष्ठी निश्चित की गई। दोनों ओर वर्धापन हुआ। विवाह के पूर्व के सभी मंगलकार्य एक-एक कर उमंग, उल्लास एवं आनंदपूर्वक सम्पन्न किए गये।

फिर विवाह का शुभ दिन भी आया। मंगलवाद्यों की मधुर ध्वनि से वातावरण संगीतमय हो गया। मंगलगीतों से दिशाओं में अमृतवृष्टि होने लगी। मंगलदीपों से आवास आलोकित हो उठे।

नाना प्रकार की औषधियों के जल से अरिष्टनेमि को स्नान कराया गया। लोगों का मानना है कि ऐसा करने से वर का शरीर शुद्ध-स्वच्छ हो जाता है। किंतु प्रिय पाठकगण ! हम तो ऐसा मानते हैं कि अरिष्टनेमि के दिव्य शरीर के स्पर्श से वह जल ही मानो अमृत बन गया।

राजीमती को भी उबटनादि क्रियाओं के पश्चात् सुन्दर-स्वच्छ वस्त्र पहनाये गये। अनुपम रत्नाभूषणों से अलकृत किया गया। अपनी सखियों से घिरी वह अनिंद्य सुन्दरी इस प्रकार सुशोभित होने लगी जैसे तारक-मण्डल के बीच में चन्द्रमा की कला दमक रही हो।

बारात चल पड़ी।

श्रीकृष्ण के सर्वश्रेष्ठ गन्धहस्ती पर सुन्दर, श्वेत, मूल्यवान वस्त्रों और दिप-दिप दमकते रत्नाभूषणों को धारण किये हुए नेमिकुमार की शोभा अवर्णनीय ही थी। उनके दोनों ओर, आगे और पीछे, सैकड़ों-हजारों राजन्य एवं राजकुमार अपने-अपने चंचल, उत्तुंग अश्वों को नचाते हुए चल रहे थे। उन अश्वों के अंगों की थिरकन वायु में आनन्द की हिलोरें उठा रही थी। दसों दशार्ह, बलराम, कृष्ण आदि अपने हाथियों पर सवार उस बारात की शोभा को द्विगुणित कर रहे थे। अन्तःपुर की सुन्दरियाँ अपनी-अपनी पालकियों में बैठी थीं और अपने मंगल गीतों से वातावरण को पवित्र बना रही थीं।

इस बारात की शोभा का वर्णन कर पाना किसी लेखनी के वश का

नहीं है। अन्तर्नेत्रों से, कल्पना के सहारे ही उस छवि का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

सारा नगर उस दिन इन्द्र की अमरावती से भी सहस्रगुना अधिक शोभायमान हो रहा था। राजमार्ग के दोनों ओर अट्टालिकाओं, वातायनों तथा गृहद्वारों पर द्वारिका की अनन्य सुन्दरियाँ उझक-उझक कर नेमिकुमार का दर्शन पाने के लिए लालायित हो रही थीं। दर्शन पा लेने पर वे अपने जीवन को सार्थक मान रही थीं।

धीरे-धीरे बारात उग्रसेन के द्वार के समीप पहुँचने लगी। मंगल-वाद्यों की संगीत ध्वनि जब राजीमती की सखियों ने सुनी तब वे आनन्द से विभोर हो गयीं। और राजीमती तो जैसे हर्ष के अतिरेक से बावरी-सी हो हो चली। सखियों ने उससे कहा—

"राजुल ! ले, तेरे जीवन का धन्य पल आ पहुंचा। उठ, वातायन में चलें, वहाँ से वर राजा का दर्शन करेंगे।"

मन ही मन में नेमिकुमार के दर्शनों के लिए व्याकुल, किन्तु लजाती-सकुचाती राजुल सखियों के साथ वातायन पर आई और जब उसकी दृष्टि अपने आराध्य स्वामी पर पड़ी तो वह हर्षातिरेक में पल भर के लिए जाने किस लोक में खो गई·····।

उसकी उठी हुई पलकें उठी ही रह गयीं। अपलक, निर्निमेष दृष्टि से वह नेमिकुमार की त्रिभुवनमोहनी छवि को निहारती ही रह गई। उसे लगा कि जैसे नेमिकुमार को पा लेने के बाद उसके लिए और कुछ भी पाना शेष नहीं रह जायगा। उसे अपने इस सौभाग्य पर भरोसा ही नहीं हो पा रहा था कि नेमिकुमार उसका वरण करने हेतु आ गए हैं। उसे विश्वास नहीं होता था कि वह इस परम सौभाग्य की पात्र है।

वस्तुतः वह तो कुछ भी सोच नहीं पा रही थी। केवल मुग्ध होकर, बेसुध-सी नेमिकुमार को अपलक, एकटक देखे ही जा रही थी।·····

उसी समय वह घटना घटित हुई जिसने वधू का वरण करने आये नेमिकुमार को इस संसार से सर्वकाल के लिए विमुख करके शाश्वत मुक्ति-वधू का वरण करने के लिए अन्तिम रूप से कटिबद्ध कर दिया।

वह घटना, जिसने राजकुमार अरिष्टनेमि को द्वारिका के राजपथ को त्याग कर मोक्षगामी मार्ग पर आगे बढ़ा दिया।

वह घटना जिसने इस संसार को राजकुमार अरिष्टनेमि के स्थान पर भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शन करा दिये।

यह क्या हो गया ? कैसे हो गया ?

हाँ, वही तो हम आपको बता रहे हैं—

नेमिकुमार अपने गजेन्द्र पर सवार होकर तोरणद्वार की ओर बढ़ रहे थे कि उन्हें किन्हीं पशुओं का करुण चीत्कार सुनाई दिया। अनेकों मूक पशु बड़े ही करुण स्वरों में चीत्कार कर रहे थे। उस चीत्कार में उनके हृदय की गहरी व्यथा प्रगट हो रही थी। उस चीत्कार-ध्वनि को सुनकर नेमिकुमार ने अपने सारथि (गज-वाहक) से पूछा—

"भद्र ! यह अत्यन्त करुण चीत्कार किसका है ? इसका कारण क्या है ?"

सारथि ने उत्तर दिया—

"स्वामिन् ! आपकी बारात में पधारे हुए सहस्रों बारातियों के लिए सुस्वादु भोजन की व्यवस्था की गई है। भोजन सामग्री में उपयोग किए जाने हेतु सैकड़ों बकरे, मेढ़े, अन्य वन्य पशु तथा पक्षीगण एकत्रित किए गए हैं। उनका वध करके बारातियों के लिए भोजन तैयार किया जाएगा। प्रभो ! अपने प्राण सभी जीवों को प्रिय होते हैं। ये सभी प्राणी भी अपनी आसन्न मृत्यु के भय से चीत्कार कर रहे हैं।"

यह सुनकर दया के सागर अरिष्टनेमि के हृदय में विचारों और भावनाओं का एक तूफान उठ खड़ा हुआ। उन्होंने सारथि को आज्ञा दी—

"मेरे गजराज को उस स्थान पर ले चलो जहाँ पर इन मूक पशुओं को बन्दी बनाकर रखा गया है।"

इस आदेश को सुनकर सारथि किसी अप्रत्याशित घटना के घटित होने की आशंका से विचलित हो गया। किन्तु उसे आदेश का पालन तो करना ही था। उसने गजराज को उस दिशा में हाँक दिया जिधर से वह करुण क्रन्दन आ रहा था।

थोड़े ही समय में नेमिकुमार उस बाड़े के निकट पहुंच गए जिसमें वे पशु-पक्षी बन्दी बनाकर रखे गए थे। गर्दन और पैरों से बंधे हुए वे निरीह पशु-पक्षी बड़े ही दयनीय और भयातुर होकर आर्त्तनाद कर रहे थे। नेमिकुमार को अपने समीप देखकर एक पल, केवल एक पल के लिए

जाने क्या हुआ कि वे सभी मूक प्राणी अपने कष्ट को सहसा भूलकर शान्त हो गए। मानो वे समझ गए हों कि उनका परित्राण-कर्त्ता आ पहुंचा है। और फिर दूसरे ही पल वे अपनी-अपनी गर्दनें उठाकर नेमिकुमार की ओर ताकते हुए पुनः चीत्कार करने लगे.....

वे निरीह प्राणी अपने परित्राण-कर्त्ता को पुकार रहे थे। नेमिकुमार का हृदय दया और करुणा से विगलित हो गया। उनके मन में मनुष्य की स्वार्थपरता तथा रसलोलुपता पर गहन वितृष्णा जाग उठी। उस एक पल में ही उन्होंने अन्तिम और अटल निश्चय कर डाला।

प्रगट में उन्होंने सारथि को आदेश दिया—

"गजराज से नीचे उतरो। इन सभी पशु-पक्षियों के बन्धन काट दो और बाड़े का द्वार खोलकर इन्हें मुक्त कर दो।"

यह आदेश उन्होंने अपने सारथि को दिया था।

किन्तु सम्भवतः उन्होंने स्वयं अपने आप से यह भी कहा हो—नेमिकुमार! अब इस संसार के बन्धन को एकबारगी ही काट फेंको और स्वयं को मुक्त करो।

उनके आदेश का तत्क्षण पालन किया गया।

सारथि द्वारा उन प्राणियों को मुक्त कर दिया गया।

पंछी चहचहाते हुए मुक्त गगन में उड़ गए।

पशु चारों दिशाओं में स्वतन्त्रतापूर्वक अपना-अपना आश्रय खोजने चल पड़े।

उन पशु-पक्षियों को अब निर्भय होकर अपने गन्तव्य की ओर जाते देखकर नेमिकुमार को लगा कि आज उनके हृदय पर पड़ा हुआ कोई एक बहुत बड़ा भार हट गया है। उन्होंने अपने समस्त अलंकरण उतारकर सारथि की ओर फेंक दिए और उसे आदेश दिया—"गजेन्द्र को लौटा ले चलो।"

नेमिकुमार के हृदय का भार तो दूर हुआ और उनकी दृष्टि में बन्धन और मोक्ष का स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रगट हुआ, किन्तु दूसरी ओर दुलहिन बनी राजुल के द्वार पर क्या हुआ यह भी तो देखना होगा—

नेमिकुमार जब तोरण से लौट गये तब दोनों पक्षों के लोग सहसा हतप्रभ रह गए, स्तब्ध हो गए। वह स्तब्धता जब कुछ पलों में दूर हुई तब

कृष्ण, बलराम, महाराज समुद्रविजय, रानी शिवादेवी तथा अन्य सभी परिजन शीघ्रतापूर्वक नेमिकुमार के लौटते हुए गजराज की ओर दौड़े और उन्हें घेरकर समझाने लगे—

"वत्स, नेमिकुमार ! यह क्या कर रहे हो ? इस मंगल बेला में तुम अचानक यह क्या करने जा रहे हो ? देखो, कितने हर्ष, कितनी उत्सुकता से सब लोग तोरण द्वार पर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। क्या इन सब को निराश कर दोगे ? वत्स ! प्रिय नेमिकुमार ! विचार करो....।"

नेमिकुमार ने सहज-शान्त भाव से सभी की बातों का उत्तर दिया—

"पूज्य माता-पिता ! अग्रजो ! आदरणीय स्वजनो ! आप सभी से मेरा कथन है कि मैं किसी को निराश नहीं कर रहा, अपितु मैं तो आप सभी को एक कभी न समाप्त होने वाली अमर आशा की सृष्टि का दर्शन कराना चाहता हूँ। राग और मोह से ग्रस्त और त्रस्त यह जो संसार है वह तो हम सभी प्राणियों को अन्ततः एक गहन निराशा के अतल गर्त में ही डालने वाला है। इस गर्त के आकर्षण से समय रहते हम सभी को बच जाना चाहिए। ये मूक, निरीह पशु-पक्षी यहाँ बन्धन में पड़े चीत्कार कर रहे थे। अब वे बन्धन-मुक्त हुए। आनन्दित हुए। इसी प्रकार हम सभी इस भवबन्धन में जकड़े हुए हैं। इस बन्धन में सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस बन्धन में आनन्द का आभास हमारा भ्रम है। यह भ्रम अज्ञानजन्य है। अज्ञान के इस अन्धकार को हटाकर, कर्म के बन्धनों को काटकर शाश्वत मुक्ति की प्राप्ति ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। यही कल्याण का मार्ग है।

"वही मेरा मार्ग है। कृपया अब आप मुझे रोकने का प्रयत्न न करें। मेरा निश्चय अटल है। अब मैं शाश्वत शिव-सुख प्रदायिनी भागवती दीक्षा ग्रहण करूँगा।"

देख लिया गया और समझ लिया गया कि अब नेमिकुमार को उनके निश्चय से डिगा पाना असम्भव ही है। किन्तु फिर भी कृष्ण ने प्रयत्न जारी रखा और कहा—

"प्रिय भाई, मैं ऐसा तो नहीं कहता कि तुम जो कुछ कह रहे हो वह यथार्थ नहीं है। किन्तु फिर भी उचित समय आने पर ही सभी बातें ठीक मानी जाती हैं। अभी तुम्हारी युवावस्था है। इस समय तुम अपने माता-पिता की इच्छा को स्वीकार करके उन्हें आनन्दित करो और फिर समय

आने पर आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होओ तो ठीक होगा। तुमने सदैव अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन किया है। इस समय भी तुम विवाहित होकर उनके हृदय को शीतल करो तो कितना अच्छा हो! अन्यथा उन्हें तथा हम सभी को बहुत दुःख होगा।"

अविचलित नेमिकुमार ने कृष्ण के इस आग्रह का उत्तर इस प्रकार दिया—

"मान्य अग्रज! आप विचार करें—कर्मों के बन्धन से जकड़ा हुआ प्राणी देव-मनुष्य-नरक और तिर्यंच गतियों में अनन्त काल से चक्कर पर चक्कर लगा रहा है। क्या इस भव-भ्रमण से उसे सुख की प्राप्ति हो रही है? यह संसार, यह भवभ्रमण तो दुःख का ही दूसरा नाम है। रही माता-पिता तथा बन्धु-बान्धवों की बात, तो आप तो स्वयं ज्ञानी हैं, तनिक बताइये कि किसी भी एक प्राणी के अपने कर्मों के फल को क्या कोई भी अन्य प्राणी कभी बाँट सका है? माता हो अथवा पिता, भाई हो या अन्य सगा-सम्बन्धी, कोई भी किसी के सुख-दुःख को बाँट नहीं सकता। सभी को अपने अपने कर्मों का ही फल भोगना पड़ता है तथा स्वयं ही पुरुषार्थ करके आत्म-कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ना पड़ता है। हे वासुदेव, अब आप मुझे रोकने का प्रयत्न न कीजिए। मैं इस बार-बार के जन्म-मरण से थक चुका हूँ। अब तो इस चक्र का भेदन कर डालने के लिए, अनन्त दुःखों के मूलरूप कर्मों को जड़ सहित नाश कर देने के लिए मैं कृतसंकल्प हो चुका हूँ। आप अब मुझे न रोकें।"

दृढ़व्रती परम पुरुष जब एक बार कोई अटल निश्चय कर लेते हैं तो फिर किसी अवस्था में उस निश्चय से डिगते नहीं।

नेमिकुमार का निश्चय शुभ था, अटल था। वे नहीं डिगे। आज्ञा पाकर उनके महावत ने हाथी को उनके निवास स्थान की ओर हाँक दिया। महाराज समुद्रविजय, महारानी शिवादेवी, वासुदेव कृष्ण, महारथी बलराम तथा अन्य सभी प्रतापी यादवगण मन मसोसकर रह गए। सभी के नेत्र अश्रुपूरित थे।

सभी दुःखी थे। क्योंकि नेमिकुमार सभी के प्रिय थे।

किन्तु राजीमती के तो वे प्रियतम थे। उसने जब देखा कि उसके प्रियतम उसके द्वार से बिना उसके पाणि को ग्रहण किए ही लौट गए हैं तो

वह इस आकस्मिक आघात से किसी वृक्ष से टूटकर गिरी लता के समान मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी।

कठिन उपचार द्वारा उसकी संज्ञा लौटाई गई। जब वह जाग्रत हुई और उसे स्मरण हुआ कि क्या कुछ घटित हो गया है तो वह बिलख पड़ी —"मैंने उन्हें मन से अपना स्वामी स्वीकार कर लिया है और वे मुझे इस प्रकार छोड़कर, त्यागकर चले गए ? क्या अपराध हो गया मुझसे ? उन्होंने भी तो वचन द्वारा मुझे स्वीकार किया था। तब उन्होंने अपना वचन भंग कैसे कर दिया ? हाय, मैं ही अभागिन हूँ, उन पुरुषोत्तम के योग्य मैं थी ही कहाँ ? मेरे ऐसे भाग्य कहाँ कि उनके जैसा महापुरुष मुझे पतिरूप में प्राप्त हो जाता ? मैंने व्यर्थ ही यह सपना अपनी आँखों में संजोया था। मुझ बौनी ने व्यर्थ ही चन्द्रमा की ओर हाथ बढ़ाया था। मेरा ही दोष था .....मेरा ही दोष था.....अवश्य मैंने ही पूर्वजन्म में कुछ ऐसा पाप किया होगा, किसी प्रेमी-युगल का बिछोह कराया होगा कि मुझे इस जन्म में अपने प्रियतम से मिलने से पूर्व ही बिछुड़ जाना पड़ा....."

अत्यन्त करुण था राजीमती का विलाप। बहुत सघन थी—उसकी पीड़ा।

विवाह के लिए धारण किए गए कंकणादि अलंकरण उसने उतार फेंके। यह दुखदायी दृश्य उसकी सखियों से देखा नहीं गया। वे कहने लगीं—

"सखी राजुल ! नेमिकुमार निर्दयी निकले, ममत्वविहीन सिद्ध हुए। किन्तु एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ कि विवाह से पूर्व ही उनकी कलई खुल गई और वास्तविकता सामने आ गई। यदि विवाह के पश्चात् उनकी ऐसी निर्दयता, निर्ममता और कठोरता प्रगट होती तो तुम्हारी क्या स्थिति हो जाती ? अभी तो तुम अविवाहित हो, कुमारी ही हो। केवल संकल्प-मात्र से तुम्हारा-उनका वाग्दान हुआ था। इसका महत्व ही क्या है ? यादवकुल में ही शाम्ब, प्रद्युम्न आदि अनेक कुमार हैं—जो सभी दृष्टियों से सुयोग्य और उत्तम पुरुष हैं। तुम उनमें से किसी एक को चुन लो और भूल जाओ नेमिकुमार को....."

राजीमती इससे अधिक नहीं सुन सकी। विकल होकर अपनी सखी को डपटती हुई बोली—

"इसके आगे एक शब्द भी उनके विरुद्ध बोलना नहीं। अभागिनो !

तुम क्या जानो कि उत्तम पुरुष किसे कहते हैं ? मूक पशुओं पर भी दया करने वाले दया के सागर वे मुझे छोड़कर गए हैं तो अवश्य ही किसी श्रेष्ठ प्रयोजन से ही। त्रिलोक में श्रेष्ठतम हैं वे, और मैंने मन एवं वचन से उन्हें अपना वर स्वीकार कर लिया है। गुरुजन द्वारा भी मैं उन्हें प्रदान की जा चुकी हूँ। अतः मिलन में अथवा बिछोह में, अब तो वे मेरे हैं और मैं उनकी अनुगामिनी हूँ। कर्मों का लेख अटल होता है। मेरे किसी भी कर्मविपाक के फलस्वरूप आज उन्होंने मेरा पाणिग्रहण नहीं किया है तो न सही। किसी न किसी रूप में कभी न कभी मैं उन्हें प्राप्त कर ही लूँगी। क्या व्रतदान देने में मात्र उनकी वाणी का ही स्पर्श मेरे अन्तःस्तल को नहीं होगा ? वही मेरी प्राप्ति होगी।"

राजीमती की इस एकान्त दृढ़ता और आत्म-संयम को देखकर उसकी सखियाँ विस्मित रह गयीं। मूक हो गईं।

राजीमती उसी घड़ी से समस्त सुखोपभोगों का पूर्ण परित्याग करके संयम का श्रेष्ठ जीवन-यापन करने लगी।

श्वास-श्वास में, सोते-जागते, उसके समस्त चिन्तन में अब या तो प्रभु ही थे या फिर अरिष्टनेमि।

अथवा वे दो नहीं, एक ही थे—प्रभु अरिष्टनेमि।

❀❀

[६]

नेमिकुमार विवाह का विचार त्यागकर, वैराग्य भावना में डूबे हुए दीक्षित होकर विचरण करने का अटल निश्चय लेकर अपने निवास-स्थान पर लौट आये थे।

लोकान्तिक देवताओं ने यह अवसर उपयुक्त समझा तथा वे नेमिकुमार के समक्ष भक्तिभाव से प्रगट हुए और उनसे प्रार्थना की—

"प्रभो ! अब आप धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कीजिए।"

नेमिकुमार ने देवताओं को समुचित आश्वासन प्रदान किया और वे ससम्मान विदा हुए। इन्द्र की आज्ञा से जृम्भक देवों ने द्रव्यों के भण्डार भर दिये। नेमिकुमार ने पूरे एक वर्ष तक उस भण्डार में से प्रचुर दान दिया।

एक वर्ष बाद महाभिनिष्क्रमण की पुण्य बेला भी आ गई। इस महोत्सव का दृश्य अद्भुत था। मानवों, मानवेन्द्रों, देवों और देवेन्द्रों द्वारा भगवान अरिष्टनेमि का वह निष्क्रमणोत्सव बड़े उल्लास एवं शोभापूर्वक सम्पन्न किया गया। उत्तरकुरु नामक अत्यन्त सुशोभन, रत्नमयी शिविका पर विराज कर नेमिकुमार द्वारिका के जनमेदिनी से ठसाठस भरे हुए राज पथ को धीरे-धीरे पीछे छोड़ते हुए उज्जयन्त पर्वत के अति मनोहर सहस्राम्र उद्यान में पहुंचे। कृष्ण-बलराम सहित समस्त यादववंशियों के अतिरिक्त विपुल मानव-मेदिनी से वे घिरे हुए थे। वह मानव-महासागर आज अपने सौभाग्य पर एक ओर हर्षित भी था और दूसरी ओर विकल भी।

उस उद्यान में पवित्र अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतर कर नेमिकुमार ने अपने समस्त आभरण उतार दिये, जिन्हें इन्द्र ने ग्रहण कर श्रीकृष्ण को अर्पित कर दिया।

उस दिन श्रावण शुक्ला षष्ठी थी। चन्द्र के साथ चित्रा नक्षत्र का शुभ योग था। तेले की तपस्या सहित अरिष्टनेमि ने आभरणों के त्याग के उपरान्त अपने केशों का स्वयं ही पंचमुष्टि लोच किया। उन पवित्र केशों

को इन्द्र ने अपने उत्तरीय में लेकर उसी समय क्षीर सागर में प्रवाहित कर दिया।

केश-लुचन के उपरान्त अरिष्टनेमि ने सिद्ध-साक्षी से सम्पूर्ण सावद्य त्यागरूप प्रतिज्ञा-पाठ का उच्चारण किया। उस पाठ के समय इन्द्र आदि की आज्ञा तथा स्वयं प्रेरणा से भी देवों एवं मानवों का वह सकल विशाल समुदाय शान्त एवं निस्तब्ध हो गया।

इस प्रकार तीन सौ वर्षों तक गृहस्थ पर्याय में रहकर अरिष्टनेमि ने एक हजार पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही उन्हें मनःपर्यव नामक चतुर्थज्ञान भी हो गया। उस समय क्षण-भर के लिए नारकीय जीवों को भी सुख प्राप्त हुआ।

इस प्रकार अरिष्टनेमि के दीक्षित हो जाने पर वासुदेव श्रीकृष्ण ने आशीर्वचन के रूप में कहा—

"हे दमीश्वर! आप अपने इच्छित मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करें। आप ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शान्ति और मुक्ति को शीघ्र प्राप्त करें।"

मानव जीवन का एक उज्ज्वल अध्याय पूर्ण हुआ।

सब लौट गये।

जिन्हें सविनय वन्दन कर सभी लोग मौन बने लौट गये थे वे अरिष्टनेमि उस उद्यान में एकाकी, ध्यानावस्थित होकर बैठे थे।

दूसरे दिन प्रातःकाल प्रभु अरिष्टनेमि ने उस सहस्राम्र उद्यान से निकलकर 'गोष्ठ' में वरदत्त नामक ब्राह्मण के यहां अष्टम-तप का पारणा परमान्न से किया। उस समय देवताओं ने दुन्दुभि बजाई तथा 'अहोदानम्, अहोदानम्' की ध्वनि की। साथ ही सुगन्धित जल, पुष्प, दिव्य वस्त्र और सुवर्ण की वर्षा कर दान की अपार महिमा प्रगट की।

वरदत्त के हर्ष का कोई पार नहीं था। उसका जन्म सफल हो गया।

इसके बाद प्रभु अरिष्टनेमि ने अपने समस्त घातिक कर्मों का क्षय करने के लिए अडिग और दृढ़ संकल्प के साथ कठोर तप एवं संयम की साधना आरम्भ की और वे अन्यान्य स्थानों में विहार करते रहे।

अपने घनघाती कर्मों का क्षय करने के लिए तपश्चरण में संलग्न प्रभु अरिष्टनेमि सौराष्ट्र प्रदेश के विविध अंचलों में परिभ्रमण करते रहे।

प्रिय पाठक !

हम आपको यह ठीक-ठीक नहीं बता सकते कि अपनी इस छद्मस्थ अवस्था में प्रभु ने किन-किन प्रदेशों में विचरण किया, क्योंकि यह काल केवल पचपन दिवस का ही रहा। किन्तु यह सुनिश्चित प्रतीत होता है कि इस काल में वे सौराष्ट्र प्रदेश में ही विचरते रहे होंगे क्योंकि इतने समय में वे सौराष्ट्र से आगे अन्यत्र कहाँ और क्यों जाते ? मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान् के आर्य एवं अनार्य प्रदेशों में परिभ्रमण करने का उल्लेख किया है किन्तु जो भी हो, यह प्रश्न उतने महत्व का नहीं है जितना कि अब आगे आने वाला उनका तीर्थंकर जीवन।

आइये, अब हम उनके उस पावन, पुण्यशाली महिमामय जीवन की झाँकी लेकर अपने जीवन को कृतार्थ करें.....

किन्तु, अवश्य ही आप राजीमती के विषय में भी जानने के लिए समुत्सुक होंगे। ठीक भी है। तो आइये, देखें, राजीमती क्या कर रही है ? क्या बीत रही है उसके साथ ?

× × ×

राजीमती एक महिमामयी, आदर्श भारतीय सन्नारी थी। अवश्य ही उसके हृदय में नारी-सुलभ दाम्पत्य-जीवन के सतरंगे सपने सजे हुए थे और नेमिकुमार जैसे पुरुषोत्तम उसे वर रूप में प्राप्त होने वाले हैं यह आशा उसे आनन्दित किए हुए थी। किन्तु जब नेमिकुमार तोरण से लौट गये और उसकी आशाओं पर एकबारगी ही तुषारपात हो गया, तब वह कुछ समय के लिए तो स्तब्ध अवश्य रह गई थी किन्तु तत्काल ही उस महिमामयी नारी ने अपनी आभ्यन्तरिक ऊर्जा को जगा लिया था और वह दृढ़तापूर्वक दीक्षाभिमुख होकर अनेक प्रकार के तप एवं उपधान करने लगी थी।

उसी बीच वह घटना घटित हुई जिसने राजीमती को वैराग्य की भावना से सम्पूर्णरूपेण ओतप्रोत कर दिया।

भगवान अरिष्टनेमि के एक छोटे भाई का नाम था—रथनेमि। प्रभु के तोरण से लौट जाने पर राजीमती को देखकर वह उस पर मोहित हो गया। उसने सोचा कि भाई तो वैरागी हो ही गए हैं, अब राजीमती को प्रसन्न करके, उसे बहला-फुसलाकर वह उससे विवाह कर ले तो क्या बाधा आ सकती है ?

यह सोचकर उसने राजीमती के पास बहुमूल्य उपहार भेजने आरम्भ किए। उसके सेवकों ने जब वे उपहार ले जाकर राजीमती की दासियों के द्वारा राजीमती से पास भिजवाए तब राजीमती ने सहज भाव से यह विचार किया कि रथनेमि भातृ-स्नेह के कारण मुझे अपनी भाभी मानकर स्नेहपूर्वक यह उपहार भेज रहा है। अतः उसका मान रखने हेतु राजीमती ने वे उपहार स्वीकार कर लिए।

क्रम चल पड़ा। रथनेमि का साहस बढ़ रहा था। धीरे-धीरे अब वह स्वयं ही उपहार लेकर राजीमती के पास जाने लगा। सरल हृदय राजीमती देवर मानकर उसका मान करती रही।

किन्तु रथनेमि के हृदय में तो वासना का नाग फूत्कारें उठा रहा था। एक दिन एकान्त पाकर उसने अपना पाप-मनोरथ राजीमती के सामने प्रगट कर ही डाला। उसने कहा—

"सुन्दरी! मैं तुम पर मोहित हो गया हूँ। तुमसे विवाह करना चाहता हूँ। तुम अनुपम सुन्दरी हो। भाई तो तुम्हें छोड़कर चले गए। वे भोग के सुखों को क्या समझ सकते हैं? वे अरसिक पुरुष हैं। किन्तु मैं तुम्हें अपनी राजरानी बनाना चाहता हूँ। अपने इस रूप और यौवन को व्यर्थ न जाने दो। हम दोनों मिलकर यौवन सुख लूटेंगे.....।"

राजीमती के हृदय पर यह सुनकर मानो वज्राघात हुआ। उस विशुद्ध हृदय वाली सन्नारी ने स्वप्न में भी विचार नहीं किया था कि रथनेमि के हृदय में ऐसे कलुषित विचार हो सकते हैं। इतनी निकृष्ट भावना हो सकती है। वह अब समझी कि जो प्रेमोपहार वह उसे भेंट कर रहा था, वह इस दुर्भावनावश ही थे, न कि भाई के प्रति प्रेम या भाभी के प्रति स्नेह के कारण। यद्यपि वह रथनेमि की बात सुनकर वज्राहत हो गई थी और कुछ पलों के लिए स्तब्ध रह गई थी, किन्तु उसने तत्काल स्वयं को सँभाला, अपने सतीत्व के तेज को प्रगट किया और रथनेमि को समझाया—

"रथनेमि! होश में आओ। तुम और मैं उच्च, संस्कारवान कुलों में में उत्पन्न हुए हैं। इसका विचार करो और अपनी इन दुर्भावनाओं को त्याग दो। मैं मन और वचन से तुम्हारे भाई की अनुगामिनी बन चुकी हूँ। तुम मेरे देवर हो। तुम्हारे लिए इस प्रकार का विचार अपने मन में लाना भी पाप है। इस पाप से बचो। जाओ, भविष्य में कभी ऐसी बात न करना।"

इतना कहकर राजीमती उठकर दूसरे कक्ष में चली गई।

प्रिय पाठकगण! कहा गया है—मोहान्धानां न भयं न लज्जा—मोह में अन्धे बने व्यक्ति को न किसी का भय रहता है न लज्जा। रथनेमि भी मोहान्ध हो रहा था। उसकी सद्विचार शक्ति नष्ट हो रही थी। उसने अपनी दुराशा और दुरभिलाषा का सूत्र नहीं छोड़ा। उसने सोचा कि प्रणय-व्यापार में सभी स्त्रियाँ आरम्भ में ऐसा ही व्यवहार करती हैं। धीरे-धीरे, निरन्तर प्रेम-प्रदर्शन से राजीमती भी पिघल ही जायगी और उसके प्रणय-निवेदन को स्वीकार कर लेगी। आखिर अपने यौवन के भार को वह कब तक सहन कर पायेगी?

यह विचार करके उसने राजीमती के जाते-जाते कुछ तेज आवाज में कहा—"मैं कल फिर आऊँगा राजीमती!"

दूसरे कक्ष में प्रविष्ट होते-होते ये शब्द राजीमती के कान में पड़ चुके थे। वह चिन्तित होकर विचार करने लगी। वितृष्णा से उसका मन भर आया था। इस संसार का काम-व्यापार कितना घृणित है, यह अच्छे-भले मनुष्यों को भी पतन के किस गर्त में धकेल देता है, यह सोच-सोचकर वह बहुत दुःखी हो गई।

किन्तु अब उसके सामने सबसे पहली समस्या तो रथनेमि से बचने की थी। वह स्वयं भी उससे बचना चाहती थी और यह भी चाहती थी कि रथनेमि भी पतन से बच जाय। इसी में सभी की प्रतिष्ठा थी। दोनों कुलों के मान की रक्षा का प्रश्न था।

सोचते-विचारते उसे रथनेमि को उद्‌बोधन प्रदान करने का एक उपाय सूझ ही गया। वह कुछ आश्वस्त होकर अपने अन्य कार्यों में लग गई।

दूसरे दिन जब रथनेमि के आने का समय हुआ तो राजीमती ने पहले से ही पेट भर कर दूध पी लिया और उसके आ जाने पर वमनकारक मदनफल को अच्छी तरह सूँघ लिया। इसके बाद उसने रथनेमि से कहा कि वह एक स्वर्ण-थाल लेकर आये।

रथनेमि स्वर्ण-थाल ले आया। इतने में ही दूध और मदनफल का प्रभाव हुआ। राजीमती ने उस स्वर्ण-थाल में वमन कर दिया और रथ-नेमि से कहा—

"देवर जी! इस दूध को पी लीजिए।"

रथनेमि घृणा से मुँह बनाता हुआ, असमंजस में पड़ा हुआ कहने लगा—

"यह क्या कह रही हो तुम ? क्या मैं कुत्ता हूँ जो इस वमन किए हुए दूध को पी जाऊँ ?"

"अच्छा ! अर्थात् तुम भी इतना तो जानते ही हो कि वमन की हुई वस्तु को ग्रहण नहीं किया जाता ?"

"इसमें क्या शक है ? कोई मूर्ख भी ऐसा कार्य नहीं करेगा।"

रथनेमि के इस कथन को सुनकर राजीमती ने कहा—

"रथनेमि ! अब तनिक विचार करो। कल तुमने मेरी बातों को समझा नहीं। उन पर विचार नहीं किया। तुम किस कुल में उत्पन्न हुए हो—यशस्वी हरिवंश में। ऐसे यशस्वी वंश में उत्पन्न होकर तुम कितना निकृष्ट कार्य करने की अभिलाषा रखते हो ? कितनी हीन और घृणित भावना है तुम्हारे हृदय में ? जिस प्रकार मेरे द्वारा वमन किया हुआ दूध तुम त्याज्य समझते हो, उसी प्रकार अपने भाई द्वारा त्यागी गई मुझको तुम कैसे चाह सकते हो ? अब भी समय है, रथनेमि ! सावधान होकर पाप के गर्त में गिरने से स्वयं को बचा लो। मुझे विश्वास है कि तुम्हारा विवेक अवश्य जागृत होगा।"

राजीमती का विश्वास फलीभूत हुआ। रथनेमि लज्जित होकर अपने आवास को लौटा और विचार करते-करते उसकी आत्मा जागृत हुई। उसे संसार से विरक्ति हो गई और वह प्रव्रजित होकर भगवान् अरिष्टनेमि की सेवा में रेवताचल की ओर चल पड़ा।

× × ×

हमने देखा था कि भगवान् अरिष्टनेमि प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् कठोर तप एवं संयम में लीन होकर इधर-उधर विचरण करने लगे थे। उन्हें इस स्थिति में अधिक समय तक नहीं रहना पड़ा। केवल चौवन दिन तक तपाराधना के पश्चात् वे उज्जयन्तगिरि (रेवतगिरि—रेवताचल) पर पधारे एवं वहीं पर अष्टम-तप से ध्यानस्थ हो गए। एक रात की प्रतिमा से शुक्लध्यान की अग्नि में समस्त मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि घाति-कर्मों का क्षय कर आश्विन कृष्णा अमावस्या को पूर्वाह्न काल

में, चित्रा नक्षत्र के योग में उन्होंने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

त्रिलोक आलोकित हो उठे।

भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति होते ही देवेन्द्रों के आसन चलायमान हुए। वे जान गये कि प्रभु को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। अत्यन्त प्रसन्न होकर वे अपने देव-देवी समाज सहित तत्क्षण रैवतक पर्वत पर स्थित उस सहस्राम्र उद्यान में आ पहुंचे। भगवान के चरणों में भक्तिपूर्वक वन्दन कर उन्होंने समवशरण की रचना की। उस समवशरण की शोभा अवर्णनीय थी। सम्पूर्ण रैवतक पर्वत देव-देवियों की कमनीय कान्ति से एवं समवशरण की शोभा से जगर-मगर कर उठा था।

सहस्राम्रउद्यान के रक्षकगण इस अपूर्व, अभूतपूर्व दृश्य और घटना को देखकर विस्मित हो रहे थे। वे इसकी सूचना देने कृष्ण के पास दौड़े-दौड़े गये। उनके हृदयों में हर्ष समा ही नहीं रहा था। कृष्ण के समक्ष उपस्थित होकर गद्‌गद् कंठ से अपनी टूटी-फूटी भाषा में उन्होंने समाचार दिया—

"स्वामी ! भगवान् पधारे हैं.....देव-देवियाँ आई हैं.....जाने क्या हो रहा है.....।"

कृष्ण समझ गये कि भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। वे परम हर्षित हो उठे। उन्होंने प्रसन्न होकर उन रक्षकों को साढ़े बारह कोटि रौप्य मुद्राओं का पुरस्कार प्रदान कर उन्हें सन्तुष्ट किया और भगवान अरिष्टनेमि के प्रति अपनी श्रद्धा का परिचय दिया।

इसके बाद उन्होंने एक क्षण का भी विलम्ब नहीं किया और समस्त यादवकुल सहित अपनी अर्धचक्री की सम्पूर्ण समृद्धि से सुशोभित होकर वे भगवान् के समवशरण की ओर धूमधाम से चल पड़े।

समवशरण के दर्शन होते ही कृष्ण तथा अन्य सहस्रों राजागण एवं सहस्रों रानियाँ अपने-अपने वाहनों से नीचे उतर गये। उन्होंने अपने समस्त राजचिन्ह भी उतार कर रख दिए और पैदल ही समवशरण के उत्तर द्वार से भीतर प्रविष्ट हुए।

उस समय भगवान् की परम शान्त, परम पावन शोभा का क्या कहना ! अष्ट महाप्रातिहार्यों से सुशोभित प्रभु इन्द्र द्वारा प्रस्तुत एक अलौकिक स्फटिक सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर विराजमान थे। तीर्थंकर के

विशिष्ट अतिशयों के कारण प्रभु का मुखारविन्द चारों ही दिशाओं में समान रूप से दिखाई दे रहा था।

श्रीकृष्ण एवं अन्य समुपस्थित सभी जन ने प्रभु की प्रदक्षिणा की और भक्ति सहित वन्दन कर वे सब यथास्थान बैठ गये।

इन्द्र तथा श्रीकृष्ण ने भक्तिपूर्वक प्रभु की स्तुति की।

इसके पश्चात् प्रभु ने देशना दी।

वह देशना स्वतः ही सभी प्राणियों को सहज रूप से समझ में आने वाली थी।

और वह परम कल्याणकारी देशना भव्य जीवों के जन्म-जन्म के अज्ञानान्धकार का क्षण मात्र में विनाश कर परम प्रकाश प्रकट करने वाली थी।

उस देशना के प्रभाव से संसार के प्रति विरक्ति का भाव अनुभव करते हुए सर्वप्रथम वरदत्त नामक राजा ने तत्क्षण प्रभु के समक्ष दीक्षित होने की प्रार्थना की। भगवान् ने योग्य समझकर उसे दीक्षा प्रदान की।

तब उपयुक्त अवसर जानकर श्रीकृष्ण ने प्रभु से प्रश्न किया—

"भगवन्! वैसे तो प्रत्येक प्राणी का आपके प्रति भक्तिभाव एवं अनुराग है, किन्तु राजीमती का आपके प्रति सर्वाधिक अनुराग होने का क्या कारण है?"

केवलज्ञानी प्रभु ने इस प्रश्न के उत्तर में राजीमती के साथ अपने पूर्व के आठ भवों के सम्बन्धों का हाल कहा। उसे सुनकर वहाँ उपस्थित तीन राजाओं को जो पूर्व भवों में प्रभु के साथ रहे थे, तत्क्षण जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और उन्होंने भी उसी समय विरक्त होकर प्रभु के समीप दीक्षा ग्रहण कर ली।

एक-एक व्यक्ति का वर्णन कहाँ तक किया जाय? प्रभु की ज्ञान और विरागपूर्ण कल्याणकारी देशना को सुनकर वरदत्त संसार से विरक्त हो गये। दो हजार क्षत्रिय वीरों ने भी उसी समय दीक्षा अंगीकार कर ली।

उन दो हजार एक सद्यःदीक्षित साधुओं में से प्रभु ने वरदत्त आदि ग्यारह मुनियों को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिपदी का ज्ञान प्रदान कर गणधर पदों पर नियुक्त किया। त्रिपदी के आधार पर उन ज्ञानी मुनियों ने यथासमय बारह अंगों की रचना की और गणधर कहलाए।

भारतवर्ष में श्रेष्ठ कार्यों में नारी कभी भी पुरुषों से पीछे नहीं रहती। इस पावन भारतभूमि का यह पुण्य प्रताप है। अस्तु, उसी समय यक्षिणी इत्यादि अनेक राजकुमारियों ने भी प्रभु के चरणों में दीक्षा ग्रहण की। प्रभु ने आर्या यक्षिणी को श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी नियुक्त किया।

दशों दशार्ह, उग्रसेन, प्रद्युम्नकुमार आदि उत्तम पुरुष भी पीछे कैसे रह सकते थे? उन सभी ने श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी श्रावक-धर्म को अंगीकार किया।

इसी प्रकार श्रेष्ठ पुरुषों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलते श्रेष्ठ सन्नारियों—महारानी शिवादेवी, रोहिणी, देवकी, रुक्मिणी आदि ने श्राविका-धर्म अंगीकार किया।

इस प्रकार उस परम पावन बेला में प्रभु ने प्राणीमात्र के कल्याण हेतु साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की।

इस तीर्थ स्थापना के कारण उसी समय से प्रभु अरिष्टनेमि भाव-तीर्थंकर कहलाए।

× × ×

प्रभु का चिन्तन इतना आकर्षक और मंगलकारी है कि यदि मानव उस विचार सागर में एक ही डुबकी लगाए तो फिर डूबता ही चला जाय।

और जो डूबे, सो तिर जाय।

हम भी प्रभु अरिष्टनेमि के साथ काफी दूर तक चले आए। किन्तु आइये, लौटकर चलें और देखें कि राजीमती क्या कर रही है?

प्रभु अरिष्टनेमि के लौट जाने के पश्चात् उसका समय धर्माराधन और अपने जन्म-जन्मान्तर के प्रियतम के ध्यान में ही लगा रहता था। इस बीच रथनेमि राहु बनकर उसके पावन चरित्र-चन्द्र को ग्रसित करने आया था, किन्तु उसने दृढ़तापूर्वक इस संकट का सामना किया था और भूले-भटके रथनेमि को कल्याण का मार्ग दिखाया था।

इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत हो गया। और जब राजीमती ने प्रभु के दीक्षित होकर विचरण करने का समाचार सुना तो उसने भी प्रभु के मार्ग का ही अनुसरण करने का संकल्प कर लिया। अपने माता-पिता के समक्ष जब उसने प्रव्रज्या ग्रहण करने की अपनी अभिलाषा को प्रगट किया तो वे

विचलित और चिन्तित हो उठे। उन्होंने उसे अपने इस निश्चय का त्याग करने के लिए समझाया और कहा—

"प्यारी पुत्री ! तू कितनी सुकुमारी है। हमारी राजदुलारी है। अभी तेरी वय ही क्या है ? संयम-साधना, दीक्षित जीवन के भयावह कष्टों का तुझे ज्ञान नहीं है। तू कैसे उस जीवन का निर्वाह करेगी ? जंगल-जंगल कहाँ-कहां भटकेगी बेटी ? इस विचार को त्याग दे।"

किन्तु राजीमती दृढ़ प्रतिज्ञ थी। वह वीर नारी अपने संकल्प से तनिक भी नहीं डिगी। उसने अपने माता-पिता को उत्तर दिया—

"पूज्य माता जी और पिताजी ! मैं तो निश्चय कर चुकी हूँ। एक बार जिनकी अनुगामिनी बन चुकी सो बन चुकी। अब कोई दूसरा मार्ग मेरे लिए बचा ही नहीं है। उस मार्ग पर अब फूल मिलें या शूल, मुझे किसी की चिन्ता नहीं है। कृपया मुझे अपने प्रभु का अनुगमन करने की आज्ञा सहर्ष प्रदान कीजिए। मेरे मंगल का मार्ग यही है।"

राजीमती के माता-पिता अन्ततः विवश होकर रह गए। उन्हें आज्ञा प्रदान करनी ही पड़ी।

शरीर से सुकुमारी किन्तु आत्मा में वज्र जैसी दृढ़ता धारण करने वाली राजकुमारी राजीमती ने अपनी सुन्दर सुकोमल केशराशि का लुंचन स्वयं अपने ही हाथों से कर लिया और प्रव्रज्या के मार्ग पर चल पड़ी।

उसकी इस दृढ़ता को देखकर बड़े-बड़े वीर शिरोमणियों ने नत-मस्तक होकर उस वीर बाला को नमन किया।

श्रीकृष्ण ने साध्वी के रूप में आ गई राजीमती को अपना आशीर्वाद प्रदान करते हुए कहा—

"हे वीर बाले ! तुम धन्य हो ! तुम्हारा स्मरण मात्र भी आने वाली पीढ़ियों के लिए, युग-युगान्तर तक कल्याण का साधन बने। जिस उद्देश्य से तुम दीक्षित हो रही हो, वह तुम्हारा लक्ष्य, तुम्हारा उद्देश्य तुम्हें शीघ्र ही प्राप्त हो।"

राजीमती परम शीलवान सन्नारी तो थी ही, उसने प्रभु नेमिनाथ के प्रति अचल धर्मानुराग रखते हुए धर्मशास्त्रों का अभ्यास भी किया था। अतः वह बहुश्रुता भी हो गई थी।

उसके दीक्षित हो जाने पर अन्य अनेक राजकुमारियों एवं उसकी

सखियों ने भी जब उसके समक्ष दीक्षित होने की अभिलाषा प्रगट की तो उसने उन्हें भी सहर्ष दीक्षा प्रदान की।

इतना होते-होते राजीमती को समाचार मिला कि भगवान् अरिष्ट-नेमि रेवताचल पर्वत पर पधारे हैं और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। यह शुभ संवाद जानकर वह अन्य साध्वियों के साथ भगवान् की वन्दना हेतु रेवताचल की ओर चल पड़ी।

किन्तु प्रभु दर्शन से पूर्व अभी उसकी एक परीक्षा और भी बाकी थी।

आकाश में काली-काली घटाएँ घिर आईं। पहले वे उमड़ी-घुमड़ी और फिर एकाएक फट पड़ीं। मूसलाधार वर्षा होने लगी। बिजलियाँ चमक-चमक कर घिर आए अन्धकार को क्षणमात्र के लिए प्रकाशित कर फिर पहले से भी अधिक प्रगाढ़ बनाने लगीं। हाथ को हाथ न सूझे ऐसी स्थिति बन गई।

राजीमती और अन्य साध्वियाँ भीग गईं। घोर अन्धकार में उनके लिए एकाएक कदम भी आगे बढ़ना दुष्कर हो गया। ऐसी स्थिति में किन्हीं पर्वतीय कन्दराओं में आश्रय ग्रहण करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं रह गया। जैसे-तैसे वे साध्वियाँ उस अन्धकार में तितर-बितर होती हुई किन्हीं-किन्हीं कन्दराओं में आश्रय हेतु प्रविष्ट हो गईं।

राजीमती भी किसी अँधेरी गुफा में चली गई। उस समय वह अकेली रह गई थी।

भीतर और भी सघन अन्धकार था, किन्तु वर्षा की तीक्ष्ण झड़ी से बचाव तो वहाँ था ही।

गुफा में पहुंचकर राजीमती ने अपने भीगे हुए वस्त्रों को उतारकर निचोड़ना आरम्भ किया।

संयोग ऐसा हुआ कि उस समय मुनि रथनेमि भी उसी गुफा में पहले से ही बैठे हुए थे।

बिजली चमकी।

रथनेमि ने राजीमती को देखा—नग्नावस्था में देखा, और उनका मन फिर डोल गया। कुछ समय से संयमपूर्वक दबाई हुई उनकी काम-वासना एकाएक फिर से भभक उठी।

चमकी हुई बिजली के प्रकाश में राजीमती की दृष्टि भी रथनेमि पर पड़ी और वह भयभीत और स्तम्भित रह गई। उस बेचारी को क्या पता था कि उस गुहा में कोई अन्य पुरुष भी बैठा है ? अन्य कोई मार्ग था नहीं। वह चुपचाप सिकुड़-सिमटकर बैठ गई।

रथनेमि काम-विह्वल हो गया था। उसने राजीमती से भोग याचना की—

"भद्रे ! आज तुम्हें फिर देखकर मेरे मन का धैर्य छूट रहा है। मैं स्वयं को रोक नहीं सकता। संयम का जीवन बिताने के लिए बहुत लम्बी आयु मिल जायगी। आओ, आज तो मेरे मनोरथ को पूर्ण करो। मुझे अपने प्रेमी के रूप में स्वीकार करो.....।"

सत्य ही कहा गया है—कन्दर्प दर्प दलने विरला मनुष्याः—विरल मनुष्य ही होते हैं जो कि काम को अपने वश में कर सकते हैं।

रथनेमि का मानस डोल उठा था। उसकी दुर्बलता पुनः उभर आई थी।

किन्तु राजीमती ने ऐसे विकट संकट के अवसर पर भी साहस रखा, विवेक रखा और रथनेमि को उद्‌बोधन प्रदान करते हुए कहा—

"रथनेमि ! अगन्धन कुल में उत्पन्न सर्प (गारुडिक, मांत्रिक द्वारा नियन्त्रित होकर भी) धुआँ छोड़ती, उद्दीप्त, भयावह, दुःसह अग्नि में प्रविष्ट हो जाते हैं किन्तु वमन किए हुए विष का पुनः पान नहीं करते। और तुम ? कौन हो तुम ? मानव हो। मानव होकर भी तुम भोगों को वमन की भाँति त्याग चुकने के बाद भी पुनः उन्हें अपनाना चाहते हो। तुम्हें धिक्कार है ! ऐसी अभिलाषा करने से तो अच्छा है कि तुम मर ही जाओ। तुम जैसे निकृष्ट कापुरुष जीवित रहने योग्य नहीं होते।

"रथनेमि ! मैं भोजराज की पौत्री हूँ और तुम अन्धकवृष्णि के पौत्र हो। मैंने तुम्हें पहले भी स्मरण कराया था कि हम कुलीन हैं। हमारे लिये ऐसे हीन विचार अपने मन में लाना भी पाप है और अपने उत्तम कुलों की अवमानना है, उन्हें कलंकित करना है।

"मैं तुम्हें फिर से कहती हूँ कि शान्त, सुस्थिर भाव से संयम में अटल रहो। स्त्री को देखकर लोलुप बनोगे तो जड़ से उखड़कर गिरे वृक्ष की भाँति विनष्ट हो जाओगे। अपने काम, क्रोध, माया और लोभ को

नियन्त्रित कर, इन्द्रियों को वश में रखकर स्वयं का उपसंहरण-संवरण करो और दूषित आचरण से बचो।"

राजीमती के ये उद्‌बोधन वचन सुनकर मुनि रथनेमि जाग्रत हो गये। उन्हें अपनी भूल के लिए भयानक पश्चात्ताप हुआ। जिस प्रकार अकुश द्वारा हाथी नियन्त्रित हो जाता है, उसी प्रकार वे भी पुनः संयम में स्थिर हो गये।

तीसे सो वयणं सोच्चा संजयाए सुभासिय।
अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपडिवाइओ॥

धन्य है राजीमती जैसी सन्नारी को! यह उसी की अद्‌भुत महिमा का परिणाम था कि एक पतनोन्मुख पुरुष को, जो कि पतन के कगार तक पहुँच चुका था, अपनी तपःपूत वाणी द्वारा अभिप्रेरित कर उसे उसने बचा लिया।

मुनि रथनेमि सीधे भगवान् अरिष्टनेमि की शरण में पहुंचे। उनके चरणों में स्थिर होकर उन्होंने आलोचना प्रतिक्रमणपूर्वक अपनी आत्मशुद्धि की और फिर कठोर तपश्चरण द्वारा अपने समस्त कर्मों का क्षय कर वे शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

साध्वी राजीमती ने भी भगवान् के श्रीचरणों में आश्रय लिया और तप-संयम की आराधना करते हुए केवलज्ञान की प्राप्ति कर मुक्त हुई।

❀❀

[१०]

एक दिन कृष्ण की माता देवकी ने एक बड़े आश्चर्य की बात देखी। हुआ यह कि उस समय भगवान् अरिष्टनेमि द्वारावती (द्वारिका) नगरी में पधारे हुए थे। नगर के बाहर सहस्राम्र वन में वे ठहरे थे। उनके साथ उस समय अन्य मुनिगण के अतिरिक्त अनीकयशा, अनन्तसेन, अजितसेन, निहतशत्रु, देवयशा और शत्रुसेन नामक छह अन्तेवासी अनगार भी थे। वे छहों सहोदर भाई थे और रूप तथा वय में वे बिलकुल एक समान ही दिखाई देते थे। उन्हें अलग-अलग पहचानना भी कठिन था। नलकूबर के समान वे अति सुन्दर थे। उनका वर्ण नीलोत्पल एवं अलसीपुष्प के समान था। इसके अतिरिक्त एक विशेषता जो उनके शरीर में थी। यह कि उनके वक्षस्थलों पर श्रीवत्स का चिह्न भी था।

श्रीवत्स का चिह्न उनके अतिरिक्त केवल श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर ही था।

उन छह अनगारों ने भगवान के समीप प्रव्रज्या ग्रहण करने के समय ही यावज्जीवन षष्ठ भक्त तप करने की प्रतिज्ञा की थी।

तो एक बार उन्होंने षष्ठ भक्त तप के पारणे के दिन भगवान से आज्ञा लेकर अपने तीन पृथक-पृथक संघाटक बनाये और भिक्षा हेतु वे द्वारिका में गये। एक संघाटक (दो मुनि) भिक्षा प्राप्त करने के लिए रानी देवकी के महल में आये। दासियों द्वारा मुनियों के आगमन की सूचना पाकर देवकी बहुत प्रसन्न हुई और दौड़ी-दौड़ी आकर उसने उन मुनियों को सादर वन्दन किया और बड़े भक्तिभावपूर्वक उन्हें केसरिया मोदक बहराये।

दोनों मुनि भिक्षा लेकर चले गये।

थोड़ी देर बाद दूसरे दो मुनि भी वहीं आये। देवकी ने उन्हें भी उसी भक्तिभाव से मोदक बहरा दिए।

किन्तु थोड़ी ही देर बाद तीसरे संघाटक के दो मुनि भी संयोगवश देवकी के द्वार पर ही आ गये। उसने उन्हें भी मोदक बहरा दिए, किन्तु उसके मन में यह जिज्ञासा जागी कि क्या कारण है जिससे कि ये मुनि बार बार भिक्षा लेने आ रहे हैं? ऐसा तो कभी होता नहीं। मुनिगण कभी किसी एक घर पर दो बार भिक्षा लेने नहीं जाते। तब फिर इन दोनों मुनियों का मेरे द्वार पर आज तीसरी बार भिक्षा लेने आने का क्या कारण हो सकता है? इस उलझन में पड़ी देवकी ने आखिर उन मुनियों से पूछ ही लिया—

"भगवन्! यह तो मेरा परम सौभाग्य ही है कि आप कृपा कर मेरे यहाँ पधारे, किन्तु मुझे आश्चर्य इस बात का है कि क्या अर्धचक्री श्रीकृष्ण की इस समृद्धिशाली द्वारिका नगरी में मुनियों के लिए भिक्षा का अभाव हो गया है जो आपको तीसरी बार एक ही स्थान पर आना पड़ा है?"

इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए मुनियों ने कहा—

"देवानुप्रिये! ऐसा नहीं है कि द्वारिका में भिक्षा प्राप्त न होती हो और न ही ऐसा है कि हम आपके यहाँ एक से अधिक बार आये हैं। प्रतीत होता है कि हम मुनियों के दो अन्य संघाटक भी संयोगवशात् हमसे पहले यहीं पर आ गए हैं। वास्तविकता यह है भद्रे! कि हम लोग भद्दिलपुर के निवासी नाग गाथापति एवं सुलसा मातापुत्र के छह सहोदर भाई हैं। रूप-रंग-वय आदि में हम एकदम समान दिखाई देते हैं। आज भिक्षा हेतु हमने पृथक-पृथक तीन संघाटक बनाये थे। यह संयोग ही हुआ कि हमारे तीनों संघाटक एक ही स्थान पर आगे-पीछे आ गए।"

इतना कहकर मुनिगण तो चले गए।

देवकी की जिज्ञासा का समाधान भी हो गया। किन्तु सहसा उसके मस्तिष्क में अतीत की एक स्मृति उद्बुद्ध हुई—किसी समय पोलासपुर नगर में एक अतिमुक्त नामक श्रमण ने कहा था—"भद्रे! तम नलकूबर के समान शोभाशाली एक समान आठ पुत्रों को जन्म दोगी। अन्य कोई भी माता तुम्हारे अतिरिक्त ऐसे पुत्रों को जन्म देने वाली नहीं होगी।"

फिर यह कैसे हुआ? भद्दिलपुर की यह कौन भाग्यशाली माता है जिसने नलकूबर के समान सुन्दर ऐसे छह पुत्रों को जन्म दिया है जो एक समान दिखाई देते हैं? यदि यह सत्य है तो फिर क्या अतिमुक्त मुनि की

भविष्यवाणी ही असत्य सिद्ध हुई है ? लेकिन ऐसा कैसे हो सकता है ? मुनियों का कथन तो कभी मिथ्या होता नहीं।

सोच-विचार कर उसने इस पहेली का सुलझाव भगवान् अरिष्टनेमि से ही जानने का निश्चय किया और वह भगवान् के समक्ष जा पहुँची। वन्दना करने के उपरान्त उसने अपना प्रश्न प्रभु के समक्ष रखा भी नहीं था कि प्रभु ने स्वयं ही फरमाया—

"तुम्हारे मन में मुनियों को देखकर प्रश्न जागा है कि क्या अतिमुक्त मुनि की भविष्यवाणी मिथ्या सिद्ध हुई ? ठीक है न !"

"हाँ प्रभो ! मैं यही जानने आपकी सेवा में उपस्थित हुई हूँ।"

तब भगवान् अरिष्टनेमि ने इस समस्या का समाधान करते हुए कहा—

"हे देवानुप्रिय ! मुनियों ने तुम्हें यह ठीक ही बताया है कि वे भद्दिलपुर निवासी नाग गाथापति एवं सुलसा नामक उसकी भार्या से उत्पन्न उनके पुत्र हैं। उन्हें ऐसा ही ज्ञान है। किन्तु जो रहस्य है, अथवा जो सत्य है वह मैं तुम्हें कहता हूँ—

"सुलसा जब बाल्यावस्था में ही थी तब किसी निमित्तज्ञ ने उसे कहा था कि वह मृत पुत्रों को जन्म देने वाली होगी। यह जानकर उसे दुःख हुआ था। किन्तु वह बाल्यावस्था से ही हरिणगमेषी देव की अनन्य उपासिका थी। वह प्रतिदिन प्रातःकाल स्नानादि मंगल करने के पश्चात् नियमितरूप से सर्वप्रथम उस देव की उपासना करती थी। उसकी इस एकान्त उपासना में कभी कोई भूल-चूक नहीं हुई।

"उसकी ऐसी अविचल भक्ति से हरिणगमेषी देव उस पर प्रसन्न हुआ। अतः वह सुलसा को तथा तुम्हें एक ही समय ऋतुमती करने लगा। तुम दोनों एक ही समय गर्भवती होती थीं, एक ही समय गर्भवहन करती थीं तथा एक ही समय में पुत्र को जन्म देती थीं। वह देव सुलसा गाथापत्नी की मृत सन्तानों को तुम्हारे पुत्रों के स्थान पर रख दिया करता था, तथा तुम्हारे पुत्रों को उसके पास। किसी अन्य को इस रहस्य का ज्ञान नहीं हो पाता था।

"इस प्रकार हे देवकी ! ये छहों मुनि वस्तुतः तुम्हारे ही पुत्र हैं।"

भगवान् के ये वचन सुनकर देवकी की प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं

रही। वह भगवान् को वन्दन कर उन छहों अनगारों के पास गई। उन्हें अपने प्यारे पुत्रों को, देखकर, जो कि जन्मते ही उससे बिछुड़ गये थे, उन्हें एकाएक पूर्ण यौवन में अपने समक्ष पाकर उसके नेत्रों में आनन्दाश्रु छलक आए और उसका मातृ आंचल दूध की धाराओं से भीग गया।

किन्तु देवकी के लिए अपने उन प्यारे, सुन्दर, सुकोमल पुत्रों को पाना और खोना एक समान ही हो गया था। उसके वे पुत्र तो दीक्षित हो चुके थे। क्या वे अब उसे पुत्र रूप में पुनः प्राप्त हो सकते थे ? उसके हृदय में एक प्रचण्ड आँधी का प्रवाह-सा बहने लगा।

समस्त द्वारिका नगरी में यह समाचार तुरत-फुरत फैल गया और कृष्ण अपने भाइयों से मिलने के लिए दौड़े-दौड़े चले आये। उनकी भी स्थिति ठीक वैसी ही थी जैसी कि माता देवकी की थी। वे अपने भाइयों के गले लगकर अपने हृदय को शीतल कर लेना चाहते थे, किन्तु मुनि-मर्यादा उन्हें रोके हुए थी। किसी प्रकार उन्होंने कहा—

"मेरे अग्रजो ! मेरे प्रिय भाइयो ! प्रभु की कृपा से आप लोग मुझे और माताजी को मिल गये हैं। पिताजी भी आपको पाकर कितने प्रसन्न होंगे ! आज हमारा नया जन्म हुआ है, ऐसा ही मानना चाहिए। मैं अकेला इस अर्धभरत के स्वामित्व के बोझ से दबा जा रहा हूँ। आइये, अब हम सब मिलकर इस राज्यलक्ष्मी का उपभोग करेंगे।"

समाचार सुनकर वसुदेव भी अविलम्ब वहाँ आ गए थे। कृष्ण के समान उन्होंने तथा अन्य उपस्थित समस्त यादव बन्धुओं एवं परिजनों ने भी उन मुनियों से ऐसा ही आग्रह किया।

किन्तु वैराग्य की भावना से ओत-प्रोत मुनिजन सांसारिक सम्बन्धों के मोहजाल को एक बार काट फेंकने के पश्चात् फिर से उसमें कब बँधते हैं ? भगवान् अरिष्टनेमि की तारणहार शरण को त्यागकर अब वे अन्यत्र कहाँ जा सकते थे ? उन्होंने कहा—

"आप सभी मोहवश ऐसा कह रहे हैं। किन्तु इस मोह का तो त्याग करना ही श्रेयस्कर है। ये सभी सांसारिक सम्बन्ध तो आज हैं और कल नहीं रहेंगे। संसार और संसार के सम्बन्ध सतत परिवर्तनशील हैं, अस्थायी हैं, क्षणिक हैं। एक जन्म के माता-पिता दूसरे जन्म में पुत्र-पुत्री अथवा शत्रु भी बन जाते हैं। एक जन्म के भाई-बहन दूसरे जन्म में माता-पिता अथवा अन्य किसी भी रूप में प्रगट हो जाते हैं। अतः इन सम्बन्धों को स्थायी मानकर आचरण करना तो भयानक भूल है, मात्र मोहांधता है।

"कर्म हम सभी को हाँक रहे हैं। कर्मवशात् इस भवसागर में सभी प्राणियों को पग-पग पर वियोग का दुःख भोगना पड़ता है। अज्ञानवश प्राणी मोहजाल में फँसा रहता है और इन्द्रियों के विषय भयंकर काले नागों की भाँति उसे डसते रहते हैं। जीवन क्षणिक सिद्ध होता है। लक्ष्मी ओस के बिन्दु के समान चंचला है। यह मनुष्य जन्म दुर्लभ है। इसे प्राप्त कर लेने पर आत्म-कल्याण की साधना में लग जाना चाहिये।

"अतः देवानुप्रियो! विवेक का आश्रय लेकर आप सभी इस मनुष्य भव को सार्थक कर लेने का यत्न करें।"

मुनियों के ये प्रतिबोध वचन सुनकर सभी लोग चुपचाप लौट गये।

देवकी के लिए पाना और खोना एक साथ ही हो गया।

भगवान अरिष्टनेमि की शरण में रहकर उन छहों मुनियों ने चौदह पूर्वों का ज्ञान उपार्जित किया और बीस वर्ष का कठोर संयम पालन कर एक मास की संलेखना से काल प्राप्त कर वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये।

× × ×

संसार में प्रत्येक नारी की सर्वोच्च कामना होती है कि वह माता बने।

प्रत्येक माता की इच्छा होती है कि वह अपने लाल को अपनी गोदी में खिलाए। उसके धूलि-धूसरित अंगों से उसका आँचल मलिन हो। अपने जीवन की सार्थकता और धन्यता उसे ऐसे ही अनुभव होती है। अपने शरीर पर बालक की धूलि उसे चन्दन के आलेप के सदृश प्रतीत होती है।

उसकी छाती जुड़ा जाती है।

कृष्ण-कन्हैया की बाल-क्रीड़ाओं का अनुपम सुख यशोदा ले गई।

अनीकयशा आदि छह देवोपम कुमारों के बचपन का सुख सुलसा के भाग्य में लिखा था।

देवकी की गोद तो भर-भरकर भी सूनी ही रह गई। यशोदा हरि को पालने झुलाती रही, सुलसा छह-छह प्रिय बालकों से खेलती रही किन्तु देवकी को क्या मिला? सात-सात पुरुषोत्तमों की माता बनकर भी वह तो एक भी बालक को अपनी गोद में खिला न सकी।

उसका मातृत्व चीख-पुकार मचाने लगा।

भगवान् अरिष्टनेमि के यहाँ से लौटकर आने के बाद, अपने उन छह मुनि-पुत्रों को देखने के बाद, उसने अपने मन को बहुत ढाँढ़स बँधाना चाहा बहुत विवेक को जगाया—किन्तु मातृत्व की सार्थकता की प्रबल भावना किसी भी प्रकार दबाए दबी नहीं।

एक ज्वाला-सी उसके हृदय में सुलगने लगी।

उसे उदास और दुःखी देखकर कृष्ण ने पूछा—

"माता! आप उदास क्यों हैं? अपने मन की बात मुझे बताइये।"

जब देवकी ने अपने मन की बात कृष्ण से कही तो कृष्ण ने अष्टम-भक्त तप करके हरिगणमेषी देव का आह्वान किया। प्रसन्न होकर देव जब प्रगट हुआ तब कृष्ण से उसने पूछा—

"क्या आदेश है, वासुदेव!"

"मेरी माता देवकी अपने एक भी पुत्र को अपनी गोद में नहीं खिला सकी, अतः बहुत दुःखी है। मुझे एक सहोदर भाई प्रदान करें।"

"तथास्तु! किन्तु वह आपका भाई बाल्यावस्था पार कर यौवनावस्था में प्रवेश से पूर्व ही भगवान अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या ग्रहण करेगा।"

सामान्य भाषा में कहावत है—भागते भूत की लंगोटी ही भली—किन्तु हम गाम्भीर्य सहित यह कह सकते हैं कि कुछ नहीं से तो जितना प्राप्त हो उतना ही भला। कृष्ण और देवकी ने भी इतने पर ही सन्तोष कर लिया। देवकी को अपने एक पुत्र को गोद में खिलाने का सुख तो प्राप्त हो ही जायगा।

देवकी गर्भवती हुई। समय आने पर उसने अति तेजस्वी, कृष्ण तथा अन्य छह भाइयों के समान ही श्रीवत्स के चिह्न से सुशोभित एक अति सुन्दर बालक को जन्म दिया। हाथी की जीभ बहुत लाल होती है। सुन्दर प्रतीत होती है। उस बालक का वर्ण वैसा ही था। अतः उसका नाम गज-सुकुमाल रखा गया।

देवकी की गोद में वह सुन्दर बालक पलने लगा, खेलने लगा। देवकी उसे देख-देखकर खूब प्रसन्न रहने लगी। बालक धीरे-धीरे बड़ा होता गया। उसके अपूर्व सौन्दर्य को देखकर द्वारावती नगरी विस्मित थी।

उन्हीं दिनों भगवान् अरिष्टनेमि पधारे। सहस्राम्रवन में उनके दर्शन हेतु कृष्ण सपरिवार गये। गजसुकुमाल भी साथ में गया।

कृष्ण की सवारी राजमार्ग से जा रही थी। एक स्थान पर कृष्ण को एक अति सुन्दर, सुकुमार बाला दिखाई दी। उनके मन में विचार आया कि यह सुन्दरी, सुशोभित बाला तो मेरे भाई गजसुकुमाल के ही योग्य है। पूछा तो पता चला कि उसका नाम सोमा है और वह सोमिल नामक ब्राह्मण की कन्या है। कृष्ण ने अपने गजराज को रोककर सोमिल से उसी समय गजसुकुमाल के लिए सोमा की माँग की।

एकाएक तो सोमिल को विश्वास ही नहीं हो सका। कहाँ वह दीन-दरिद्र ब्राह्मण और कहाँ त्रिखण्ड के अधीश्वर अर्धचक्री पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण! वे नरनाथ उस गरीब से उसकी पुत्री अपने भाई राजकुमार गजसुकुमाल के लिए माँग रहे थे।

किन्तु जब विश्वास हो सका तब उसने सहर्ष अपनी स्वीकृति दी और अपने भाग्य को सराहा। सपने देखने लगा कि अब तो उसकी बेटी राजरानी बनेगी.....।

किन्तु होनी कुछ और ही थी। भगवान् अरिष्टनेमि का प्रवचन सुनकर गजसुकुमाल के मन में वैराग्य जागृत हो गया। उसने भगवान् के समक्ष दीक्षित होने की अपनी इच्छा प्रगट की। कृष्ण ने, पिता महाराज उग्रसेन ने, माता देवकी ने—सभी ने गजसुकुमाल को बहुत समझाने का प्रयत्न किया, बहुत कुछ कहा—अभी तुम्हारी आयु ही क्या है? अभी तो तुमने संसार को देखा ही क्या है? इतनी जल्दी क्या है? मुनि जीवन बहुत कठोर है। तुम बहुत सुकोमल हो आदि, इत्यादि।

लेकिन गजसुकुमाल दृढ़ रहा। कोई भी आकर्षण उसे अपने निश्चय से डिगा नहीं पाया। उसने भगवान् के समक्ष दीक्षा ले ली।

दीक्षित होकर कठोरतम साधना करने के लिए भगवान् से आज्ञा प्राप्त कर बाल-मुनि गजसुकुमाल उसी दिन महाकाल नामक श्मशान में गये। उच्चार प्रस्रवण के लिए भूमि की प्रतिलेखना कर, शरीर को कुछ झुकाकर, भुजाओं को पसार कर, नेत्रों को निर्निमेष रख, दोनों पैर एक साथ इकट्ठे कर वे एक रात्रि की महाप्रतिमा नामक तपश्चर्या ग्रहण कर खड़े हो गये।

कठोर थी वह तपस्या।

किन्तु दृढ़तर था मुनि गजसुकुमाल का संकल्प।

उधर वह सोमिल ब्राह्मण सन्ध्या के समय वन से समिधा, दर्भ, कुश, पत्र इत्यादि एकत्र कर नगर की ओर लौट रहा था। उसका मार्ग उस श्मशान के समीप से ही निकलता था। उसने देखा—गजसुकुमाल, जिसके साथ उसकी कन्या का सम्बन्ध होने वाला था, उसका वही भावी जामाता, मुण्डित होकर साधु बन गया है। यह देखकर उसके हृदय पर वज्राघात-सा हुआ। फिर उसे प्रचण्ड क्रोध ने आ घेरा—मेरी सुकोमल, प्यारी बेटी के जीवन के साथ यह क्रूर खिलवाड़! मेरी निर्धनता का यह क्रूर उपहास!!

वह अपना विवेक भूल बैठा। क्रोध के वशीभूत होकर उसने समीप के ताल से गीली मिट्टी लाकर ध्यान मुद्रा में स्थित गजसुकुमाल के सिर पर पाल बाँधी।

पास ही जलती चिताओं में से किसी एक चिता से धधकते अंगारे इकट्ठे किये और मुनि गजसुकुमाल के सिर पर रख दिये। क्रोधाभिभूत होकर, अर्धचक्री—अपने स्वामी श्रीकृष्ण के भयंकर भय को भी विस्मृत कर उसने यह कुकृत्य कर डाला और चुपचाप वहाँ से खिसक गया।

फिर क्या हुआ?

हम और आप होते तो सम्भवतः अपने सिर को तनिक-सा हिलाकर उन धधकते हुए अंगारों को भूमि पर गिरा देते—बच जाते।

किन्तु मुनि गजसुकुमाल ने ऐसा कुछ नहीं किया। उन तरुण-तपस्वी का मस्तक जलने लगा। चमड़ी, माँस, मज्जा सब जलने लगे। बड़ी भयंकर पीड़ा सारी देह में हुई। किन्तु उनके मन में विरोध अथवा ऐसा करने वाले व्यक्ति के लिए प्रतिशोध की लेशमात्र भी भावना जागृत नहीं हुई। क्योंकि वे मुनि तो देहभाव से परे आत्मभाव में लीन थे। उन्होंने विचार किया—यह जो कुछ हो रहा है वह मेरे ही पूर्वजन्मों के कर्मों का परिणाम है। जिस व्यक्ति ने ऐसा किया है वह तो मुझ पर उपकार ही कर रहा है, मुझे ऋण-मुक्त कर रहा है।

इन्हीं श्रेष्ठतम भावनाओं में लवलीन वे परमात्मलीन हो गए—शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

दूसरे दिन जब श्रीकृष्ण भगवान के दर्शन हेतु गए तब मुनि गजसुकुमाल कहीं दीखे नहीं। सहज ही उन्होंने प्रश्न किया—

"भगवन् ! मुनि गजसुकुमाल दिखाई नहीं देते ? वे कहाँ हैं ?"

भगवान ने गम्भीरतापूर्वक बताया—

"कृष्ण ! वे बालमुनि तो कृतकृत्य हो गए।"

"भगवन् ! आपने क्या फरमाया ? मैं कुछ समझा नहीं.....।"

"कृष्ण ! उन्होंने अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया। वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।"

"भगवन्.....?"

"कृष्ण ! देवानुप्रिय ! आत्मा में अनन्त बल है। गजसुकुमाल को एक सहायक भी मिल गया। उसके निमित्त से वे इस भवसागर के पार उतर गए।"

कृष्ण अब समझे कि कोई व्यक्ति गजसुकुमाल की मृत्यु का कारण अवश्य बना है। भीतर ही भीतर अपने प्रचण्ड क्रोध को छिपाए उन्होंने पूछा—

"भगवन् ! यह अनार्य कर्म करने का दुस्साहस किसने किया है ?"

भगवान् अरिष्टनेमि ने जान लिया कि कृष्ण को प्रचण्ड क्रोध हो आया है। उन्होंने समझाया—

"कृष्ण ! तुम उस व्यक्ति के प्रति क्रोध न करो। एक तो उसने अज्ञानवश, मोहवश ऐसा किया है। दूसरे, उसने गजसुकुमाल मुनि को सहारा ही दिया है।"

"सहारा दिया है ? उसने तो मेरे अनुज गजसुकुमाल की हत्या की है, भगवन् ! सहारा कैसे दिया ?"

"समझने का प्रयत्न करो, कृष्ण ! कोई किसी को मारता नहीं, कोई किसी को जिलाता नहीं ? सब अपने-अपने कर्मों का परिणाम भोगने के लिए विवश हैं। अतः एक बात तो यह कि उस व्यक्ति ने उन्हें मारा नहीं। दूसरा यह कि सहारा कैसे दिया, तो तुम बताओ कि जब तुम अभी मेरे दर्शन हेतु आ रहे थे तो मार्ग में तुमने क्या किया था ?

"लो, मैं ही कहता हूँ—तुमने एक बूढ़े, जर्जरित, भूखे-प्यासे, निर्धनता के साकार स्वरूप एक वृद्ध को थके-मांदे, एक-एक ईंट बड़ी कठिनाई

से उठा-उठाकर, हाँफते-हाँफते, अपने घर के अन्दर रखते देखा। देखा था न ?"

"हाँ, भगवन् !"

"देखकर तुम द्रवित हुए। विचारशील पुण्यात्मा हो न ! तुमने अपना गजराज रुकवाया, नीचे उतरे, एक ईंट उठाकर तुमने उसके घर में रखी। तुम्हें, अपने अर्धचक्री सम्राट् को ऐसा करते देखकर तुम्हारा अनुगमन करने वाले सैकड़ों व्यक्तियों ने भी ऐसा ही किया। देखते-देखते ही वह ईंटों का ढेर उस बूढ़े के घर में पहुंच गया। तो तुमने उसे सहारा दिया न ?"

"हाँ, भगवन् !"

"तो उसी प्रकार उस व्यक्ति ने भी गजसुकुमाल के अनेकानेक सहस्र सहस्र भवों के संचित कर्मों की उदीरणा करके उनका सम्पूर्णरूपेण क्षय करने में उन्हें सहायता ही प्रदान की।"

भगवान के इस तथ्य कथन को सुनकर कृष्ण निरुत्तर रह गए। उन्होंने इतना ही पूछा—

"प्रभो ! मैं उस व्यक्ति को कैसे जान सकता हूँ ?"

"धैर्य रखो, कृष्ण ! नगर में प्रवेश करते ही तुम उस व्यक्ति को देखोगे।"—भगवान् ने कहा।

कृष्ण भगवान की चरण-वन्दना कर लौट गये।

श्रीकृष्ण नगर में लौट रहे थे। सोमिल ने क्रोधावेश में वह कुकृत्य कर तो डाला था, किन्तु जब उसे ज्ञात हुआ कि श्रीकृष्ण भगवान के समीप गए हैं तो उसे अनुमान करने में विलम्ब नहीं लगा कि अब उन्हें सब कुछ ज्ञात हो जायेगा। मैंने चाहे जैसे एकान्त में वह कृत्य किया हो, किन्तु भगवान तो केवलज्ञानी हैं.....

अब मेरा क्या होगा ? श्रीकृष्ण के प्रचण्ड कोप से मेरी रक्षा तो त्रिभुवन में कोई कर ही नहीं सकता—यह सोचकर बेचारा सोमिल भागा.....

नहीं भागता तो बच जाता। कृष्ण तो उसे क्षमा कर देते। किन्तु भावी को तो घटित होना था।

सोमिल भाग रहा था। सामने से श्रीकृष्ण आ रहे थे। सोमिल ने देखा और भयभीत होकर भूमि पर गिर पड़ा। उसके प्राण-पखेरू ही उड़ गए। □

[११]

भगवान अरिष्टनेमि के लोकोत्तर दिव्य व्यक्तित्व का प्रभाव ऐसा था कि जन-मन स्वतः ही उनकी ओर आकृष्ट हो जाता था। उनकी ओर आकृष्ट होने का अर्थ होता था अध्यात्मभाव की ओर अभिरुचि का उत्पन्न होना तथा आत्मकल्याण के साधन के लिए तत्पर हो जाना।

इस पर गजसुकुमाल मुनि की उत्कृष्ट साधना के प्रसंग ने सैकड़ों और हजारों व्यक्तियों को संसार की नश्वरता का बोध करा दिया और वे संसार-त्याग करके भगवान के समक्ष दीक्षित हो गए। उन हजार-हजार भाग्यवान पुरुषों में और सन्नारियों में महाराज समुद्रविजय, सागर, अक्षोभ्य, हिमवान, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द्र ये नौ दशार्ह भी थे तथा माता शिवादेवी, कमलावती, रोहिणी, देवकी तथा वसुदेव की अन्य रानियाँ भी थीं। महारानी कनकवती गृहस्थाश्रम में ही रहीं, किन्तु वे चिन्तन के इतने उच्च धरातल पर पहुँच चुकी थीं कि एक दिन संसार के स्वरूप का चिन्तन करते-करते उन्होंने अपने समस्त घनघाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान की प्राप्ति की।

जिस प्रकार भगवान महावीर पुनः-पुनः राजगृही नगरी में पधारते रहते थे, उसी प्रकार भगवान् अरिष्टनेमि का द्वारिका नगरी में पुनः पुनः पदार्पण होता रहता था। यह द्वारिका का सौभाग्य था।

इसी क्रम में जब एक बार प्रभु द्वारिका में पधारे तब नन्दनवन में विराजे। उस समय अंधकवृष्णि के पुत्र और धारिणी रानी के आत्मज गौतमकुमार ने प्रभु से दीक्षा ग्रहण की। अथाह ऋद्धि सम्पन्न थे गौतम-कुमार। उनकी आठ पत्नियाँ थीं। प्रत्येक पत्नी के मायके से आठ-आठ सुवर्ण कोटि का विपुल धन उन्हें प्राप्त हुआ था। किन्तु उन्होंने इस विपुल ऋद्धि को तृणवत् ठुकरा दिया। श्रमण-जीवन अंगीकार करने के बाद

उन्होंने स्थविरों से सामायिक से लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, भगवान् से आज्ञा लेकर बारह भिक्षु प्रतिमाओं की आराधना की तथा गुणरत्न संवत्सर तप की भी साधना की थी। इस प्रकार बारह वर्ष तक संयम पालन कर अन्त में एक मास की संलेखना कर वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

उन्हीं की भाँति समुद्र, सागर, गम्भीर, स्तिमित, अचल, काम्पिल्य, अक्षोभ, प्रसेन एवं विष्णु आदि ने भी प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और संयम की आराधना कर मुक्त हुए। उन सभी के पिता अन्धकवृष्णि तथा माता धारिणीदेवी थीं।

इसी प्रकार जब एक बार भगवान् पुनः द्वारिका में पधारे थे तब वसुदेव और महारानी धारिणी के पुत्र सारणकुमार ने अपनी परम प्रिय पचास पत्नियों को त्याग कर दीक्षा ग्रहण की थी। स्थविरों के पास उन्होंने चौदह पूर्वों का अभ्यास किया। बीस वर्ष तक संयम का पालन किया। फिर अन्त में एक मास की संलेखना कर शत्रुञ्जय पर्वत पर उन्होंने मुक्ति प्राप्त की।

भगवान् का द्वारिका नगरी में पुनः आगमन हुआ। उस समय वसुदेव और धारिणी के पुत्र जालिकुमार, मयालिकुमार, उपजालिकुमार पुरुषसेन और वारिषेण एवं श्रीकृष्ण एवं रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्नकुमार, और वैदर्भी के पुत्र अनिरुद्ध एवं समुद्रविजय तथा शिवादेवी के पुत्र सत्यनेमि ने दीक्षा ग्रहण की।

इस प्रकार यह क्रम चलता ही रहा।

प्रिय पाठकगण! क्या भगवान् की निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् यह क्रम टूट गया? नहीं टूटा तो क्या अब टूट रहा है अथवा टूट जायगा? यह प्रश्न विचारणीय है। आप विचार करें कि क्या इस क्रम को टूट जाना चाहिए? यदि यह क्रम टूट गया तो फिर इस संसार-सागर में डूबते-उतराते हम आप जैसे प्राणियों को त्राण कहाँ और कैसे मिलेगा?

नहीं, यह क्रम कभी नहीं टूटेगा, कभी टूटना नहीं चाहिए। भगवान् ने जो ज्ञान की कभी न बुझने वाली ज्योति जलाई है उसके अनन्त प्रकाश में हमें और आपको आगे बढ़ना है.....।

आगे.....आगे.....और भी आगे.....।

वहाँ तक जाना है हमें, जहाँ पहुँच कर फिर कभी लौटना न पड़े।

× × × ×

जन कल्याण के लिए स्थान-स्थान पर विचरण करते हुए भगवान् अरिष्टनेमि एक बार पुनः द्वारिका नगरी में पधारे। उनके अमृतोपम उपदेश का श्रवण करने हेतु कृष्ण अपने सम्पूर्ण परिवार सहित गए। नगरी के वासी भी दर्शनार्थ उमड़ पड़े।

भगवान के उपदेश के पश्चात् कृष्ण ने एक प्रश्न किया—

"भगवन् ! अमरावती के सदृश सुन्दर और समृद्धिशाली इस द्वारिका नगरी का, यशस्वी यदुवंश का, तथा स्वयं मेरा भी अन्त कालवश स्वतः ही कभी होगा अथवा इनके विनाश और अन्त में कोई व्यक्ति निमित्त बनेगा ?"

भगवान् ने कृष्ण के प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया—

"कृष्ण ! घोर तपस्वी पराशर ऋषि के पुत्र ब्रह्मचारी द्वैपायन को शाम्ब आदि यादव सुरापान द्वारा उन्मत्त बनकर सतायेंगे और निर्दयतापूर्वक उसे मार डालेंगे। इससे कुपित होकर वह यादवों सहित द्वारिका नगरी के विनाश का निदान कर देव बनेगा। देव बनकर वह यादवों सहित पूरी द्वारिका नगरी को जला डालेगा। तुम्हारा प्राणान्त तुम्हारे बड़े भाई जराकुमार के बाण से कौशाम्बी वन में होगा।"

भगवान् त्रिकालदर्शी थे। उन्होंने जो भविष्य कथन किया था वह तो अटल ही था। उसे सुनकर सभी लोग स्तब्ध रह गए। जराकुमार की हालत तो बहुत दयनीय हो गई। सब लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। वह स्वयं ग्लानि से मरा जाने लगा। वह तत्काल उठा और प्रभु को वन्दन कर मात्र एक धनुष-बाण लेकर सदा-सदा के लिए द्वारिका को छोड़कर चला गया। उस बेचारे ने सोचा और चाहा होगा कि न मैं कृष्ण के आसपास रहूँ और न मेरे द्वारा कृष्ण का प्राणान्त हो।

वह होनी से बचना चाहता था।

इसी प्रकार द्वैपायन ने जब लोगों के मुख से भगवान् की कही हुई बात सुनी तब वह भी द्वारिका नगरी को त्याग कर बहुत दूर कहीं वन में जाकर रहने लगा कि न कोई उसके पास आए, न उसे क्रोध चढ़े और न वह कोई अप्रिय संकल्प ले।

अपनी-अपनी तरह जराकुमार और द्वैपायन ने उस कठोर भावी को टालने का प्रयास किया।

किन्तु जो होनहार था वह तो टलने वाला था नहीं। कब, किस प्रकार भगवान् का यह भविष्यकथन सत्य सिद्ध हुआ यह हम आगे यथा-समय आपको बताएँगे।

अभी तो आइए, हम देखें कि द्वारिका तथा यदुवंश की रक्षा के लिये कृष्ण ने क्या उपाय किये।

मनुष्य के सर्वनाश की जड़ है मदिरा। इसी के कारण द्वारिका का भी विनाश होने की बात प्रभु ने कही थी। अतः कृष्ण ने अपने राज्य में कठोर आदेश जारी कर दिये कि अब कोई भी व्यक्ति कभी मदिरापान नहीं करेगा। उनकी आज्ञा से द्वारिका की सारी मदिरा कदम्ब वन में पर्वत की कादम्बरी गुफा के शिलाखण्डों पर फिंकवा दी गई।

द्वारिका का प्रत्येक नागरिक अपनी नगरी को प्यार करता था। वह मानव जीवन की उत्कृष्टता को भी जानने लगा था। अतः प्रत्येक नागरिक ने अपने-अपने मदिरा-पात्र ले जाकर उस पर्वत की शिलाओं पर फोड़ डाले।

स्वानुशासन द्वारा पूर्ण मद्यनिषेध का पालन किये जाने से द्वारिका नगरी का जीवन खिल उठा। वहाँ शान्ति और प्रेम का सागर हिलोरें लेने लगा।

समय सुख से बीत रहा था।

एक दिन राजकुमार शाम्ब का एक सेवक किसी कार्यवश कदम्ब वन में गया हुआ था। उस सघन वन में वह कुछ भटक गया। भटकते-भटकते उसे प्यास लग आई और पानी खोजते-खोजते वह कादम्बरी गुफा के पास जा पहुँचा। वहाँ उसे जल से भरा हुआ एक कुण्ड दिखाई पड़ा। प्यासे सेवक ने जी भरकर पानी पी लिया।

किन्तु इधर तो उसकी प्यास बुझी और उधर उसके पैर जमीन से उखड़ गये। वह आकाश में उड़ने लगा। उसे ऐसा लगा कि जैसे वह एका-एक वायवी-सा हो गया हो।

कुछ समय तक तो उसे कुछ समझ में ही नहीं आया कि यह क्या और कैसे हो गया ?

फिर धीरे-धीरे उसकी संज्ञा लौटने लगी। तब उसने जाना कि वह जो उसने पिया था वह पानी नहीं, मदिरा थी।

हुआ यह था कि द्वारिकावासियों द्वारा शिला पर फोड़े गये मदिरा-पात्रों से ढुली हुई मदिरा इधर-उधर से बह-बहकर नीचे जाकर उस कुण्ड में भर गई थी। समय बीतता गया और अनेक प्रकार के पुष्पों के उसमें गिरते रहने से वह मदिरा सुवासित भी हो गई थी।

पानी के भ्रम में उस सेवक ने वह मदिरा पी ली थी।

अब उसने देखा कि ऐसी मदिरा तो उसने अपने जीवन में पहले कभी नहीं देखी थी। ऐसी उत्कृष्ट मदिरा यदि वह अपने स्वामी को चखने के लिए दे तो ?

अपढ़, मूढ़ सेवक तो सेवक ही ठहरा। ऊँची से ऊँची बात जो वह सोच सका वह यही थी कि उसके स्वामी इतनी उत्कृष्ट मदिरा को पाकर प्रसन्न हो जाएँगे।

उस व्रत का क्या होगा जो द्वारिकावासियों ने ले रखा था तथा उस व्रत को भंग करने का क्या परिणाम होगा—यह वह सेवक सोच नहीं सका।

उसने एक पात्र में उस कुण्ड में से मदिरा ली और नगरी में लौट आया। सायंकाल हो गया था। उसने अपने स्वामी शाम्ब को वह मदिरा दे दी।

शाम्ब की भी मति मारी गई। वह लोभ का संवरण नहीं कर सका। उसने मदिरा का पात्र खाली कर दिया। उसे मदिरा बहुत अच्छी लगी। सेवक से पूछा—"कहाँ मिली तुझे यह मदिरा ?"

सेवक ने सच-सच बता दिया।

दूसरे दिन शाम्ब अपने युवा साथियों को लेकर कदम्ब वन में कादम्बरी गुफा की ओर चल पड़ा।

वस्तुतः वह स्वयं अपने तथा समस्त यदुवंश के विनाश की यात्रा पर चला था उस दिन !

उस कुण्ड पर पहुँचकर उन असंयमी और अविचारी यादव-कुमारों ने जी भरकर मदिरापान किया। परिणाम जो होता है मदिरापान का वही हुआ—वे सभी मदहोश होकर झूमने लगे।

विवेक उनका साथ छोड़ गया था।

उसी अविवेक की स्थिति में शाम्बकुमार की दृष्टि कुछ दूर ध्यानस्थ बैठे द्वैपायन पर पड़ गई। वह नशे में चूर तो हो ही रहा था। विवेक साथ छोड़ ही चुका था। अतः द्वैपायन को देखते ही उसने कहा—"यह अभागा हमारी प्यारी द्वारिका नगरी को और हमारे यादवकुल को नष्ट करेगा? अरे, आज हम ही इसे समाप्त किए देते हैं। फिर यह कैसे नष्ट करेगा?"

शाम्बकुमार का इतना कहना था कि नशे में धुत सभी यादवकुमार द्वैपायन पर टूट पड़े। लातों और घूंसों के प्रहारों से उन दुष्टों ने उस तपस्वी को बहुत मारा। अधमरी स्थिति में उसे वहीं छोड़कर वे नगरी में लौट आए।

श्रीकृष्ण के गुप्तचरों ने इस घटना की सूचना तुरन्त उन्हें दी। सुनते ही वे बलराम को साथ लेकर शीघ्र ही द्वैपायन के पास जा पहुंचे। द्वैपायन के प्राण अभी अटके थे। उसकी संज्ञा भी समाप्त नहीं हुई थी। कृष्ण ने विनीत स्वरों में उससे कहा—

"तपस्वीवर! यादवकुमार अबोध हैं, अविवेकी हैं। अवश्य ही उन्होंने अक्षम्य अपराध किया है। किन्तु आप ज्ञानी हैं, तपस्वी हैं, उदार हैं। क्षमा कीजिए।"

कृष्ण और बलराम की विनम्रता से द्वैपायन अवश्य ही प्रभावित हुआ, किन्तु वह संकल्प कर चुका था। उसने कहा—

"कृष्ण! मैं निदान कर चुका हूं। जिस समय वे क्रूर कुमार मुझे लातों और घूंसों से मार रहे थे, तभी मैंने निदान कर लिया था। अब तो मैं तुम्हारे और बलराम के अतिरिक्त समस्त नागरिकों सहित सम्पूर्ण द्वारिका नगरी को भस्मीभूत करके ही रहूंगा। इस नगरी में तुम दोनों के अतिरिक्त एक कुत्ता भी जीवित नहीं बच पायेगा। मेरा निदान हो चुका यदु श्रेष्ठ!"

द्वैपायन ने अन्तिम श्वास ली।

कृष्ण-बलराम हताश हुए लौट आए।

अब यह तो सुनिश्चित ही था कि द्वारिका-दाह होगा। कृष्ण ने इस अटल सत्य को स्वीकार करके चिन्तित नागरिकों को सलाह दी—"जो भावी है, उसे स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। अतः

सभी लोग अपने हित का विचार कर अपना अधिकाधिक समय धर्मध्यान में व्यतीत करें।"

द्वारिकावासी व्रत, उपवास, स्वाध्याय, ध्यान इत्यादि में प्रवृत्त हो गए।

भगवान् अरिष्टनेमि रैवतक पर्वत पर पधारे। उनका उपदेश सुनकर शाम्ब, प्रद्युम्न, सारण, उन्मुक, निरूढ़ आदि अनेक यादव कुमारों ने तथा रुक्मिणी, जाम्बवती आदि अनेक स्त्री-रत्नों ने विरक्त होकर प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

श्रीकृष्ण के एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने बताया—"आज से बारहवें वर्ष में द्वैपायन द्वारा द्वारिका नगरी भस्म कर दी जायगी।"

कृष्ण कुछ पलों के लिए कहीं खो-से गये। उन कुछ पलों में उनकी अन्तर्दृष्टि के सम्मुख उनकी प्यारी द्वारिका नगरी, जिसे देवताओं ने बड़े हुलास से बनाया था और जिसमें बसने वाली प्रजा को उन्होंने बड़े प्यार से पाला था, धू-धू करके जलती दिखाई देने लगी।

संसार की नश्वरता के विचार से उनका मस्तिष्क जलने लगा और हृदय भारी हो गया। वे सोच रहे थे—धन्य हैं महाराज समुद्रविजय, जालि मयालि, प्रद्युम्न, शाम्ब, रुक्मिणी, जाम्बवती—आदि, आदि—जिन्होंने सांसारिक भोगों की नश्वरता और क्षणभंगुरता को जान-समझकर त्याग का मार्ग अपना लिया। किन्तु मैं ? मैं तो अब भी त्रिखण्ड के साम्राज्य तथा ऐश्वर्य में डूबा पड़ा हूँ.....।

करुणा के सागर, अन्तर्यामी भगवान् से कृष्ण का यह विचार और भावना, उनके हृदय की गहन पीड़ा, छिपी न रह सकी। उन्होंने कहा—

"कृष्ण ! दुःखी न होओ। तुम यही विचार कर रहे हो न कि तुम भी अन्य लोगों की भाँति संसार त्याग क्यों नहीं पा रहे हो ?"

"हाँ, प्रभु ! मैं यही सोच रहा था।"

"कृष्ण ! तुम वासुदेव हो। और ऐसा न कभी हुआ है, न हो सकता है, और न होगा कि कोई वासुदेव हिरण्य, राज्य आदि का त्यागकर प्रव्रज्या ग्रहण करे। क्योंकि जितने भी वासुदेव हैं वे कृतनिदान होते हैं, जिससे वे प्रव्रज्या ग्रहण करने में समर्थ नहीं होते।"

यह जानकर कृष्ण ने विवशता को स्वीकार किया, आत्मग्लानि का त्याग किया और पूछा—

"भगवन् ! इस शरीर का त्याग कर मैं कहाँ जाऊँगा ?"

"कृष्ण ! जिस समय यह द्वारिका नगरी द्वैपायन के क्रोध से भस्म होगी—उस समय तुम बलदेव के साथ दक्षिण दिशा में पाण्डु मथुरा जाने के लिए निकलोगे। पाण्डु-पुत्र पाण्डवों से तुम मिलना चाहोगे। उस समय कौशाम्बी नगरी के कानन में न्यग्रोध नामक वृक्ष के नीचे पृथ्वी शिलापट्ट पर पीत वस्त्रों से स्वयं को आच्छादित कर तुम शयन कर रहे होगे। उस समय जराकुमार भी उधर ही आ निकलेगा। दूर से तुम्हें देखकर उसे किसी मृग के बैठे होने का भ्रम होगा। वह अपने तीक्ष्ण बाण से मृग को बेधना चाहकर बाण चलाएगा। वह तीक्ष्ण तीर तुम्हारे पैर में लगेगा और तुम काल के ग्रास बनोगे। वहाँ से काल करके तुम तृतीय पृथ्वी पर उत्पन्न होओगे।"

यह कथन सुनकर कृष्ण फिर विचार में पड़ गए। भगवान ने यह जानकर कहा—

"चिन्ता का विषय नहीं है, कृष्ण ! आगामी उत्सर्पिणी काल में इसी जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में तुम पुण्ड्र जनपद में शतद्वार नामक नगर में अमम नामक बारहवें तीर्थंकर बनोगे। तुम्हारे द्वारा अनेक वर्षों तक जनकल्याण होगा और अन्त में तुम सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनोगे।"

यह जानकर कृष्ण प्रसन्न हुए। भगवान् को सविधि वन्दन कर वे नगरी में लौट आए। उन्होंने पुनः घोषणा कराई—"द्वारिका नगरी का विनाश अवश्यम्भावी है। अतः जो भी व्यक्ति प्रभु के चरणों में शरण लेना चाहता हो वह निश्चिन्त होकर ऐसा कर सकता है। उसके परिवार के भरण-पोषणादि की चिन्ता मैं स्वयं करूँगा।"

द्वारिका के निवासी धर्मप्रेमी थे। कृष्ण की इस घोषणा से वे और भी प्रेरित हुए तथा अनेकों व्यक्तियों ने प्रभु के पास दीक्षित होकर आत्म-कल्याण की साधना की।

भगवान के उपदेश को सुनकर कृष्ण की अग्रमहिषी पद्मावती को भी संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने भी कृष्ण से अनुमति प्राप्त कर ली। उसके अभिनिष्क्रमण अभिषेक की विराट् रूप से तैयारी की गई।

सर्वप्रथम पद्मावती को पट्ट पर बिठाकर एक सौ आठ सुवर्ण कलशों से अभिषिक्त किया गया। तत्पश्चात् मूल्यवान अलंकरणों से अलंकृत किए जाकर एक हजार पुरुषों द्वारा वहन की जाने वाली शिविका में बिठाकर उसे रैवताचल पर्वत पर सहस्राम्रवन में प्रभु के समीप ले जाया गया। जब वह प्रभु के चरणों में विनत हुई तब कृष्ण ने प्रभु से प्रार्थना की—

"भगवन्! यह मेरी अग्रमहिषी पद्मावती देवी मुझे अत्यन्त इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ एवं अभिराम है। यह आपकी शरण चाहती है। मैं इसे शिष्या की भिक्षा के रूप में प्रदान करता हूँ। कृपया इसे स्वीकार करें।"

भगवान का उत्तर था—"जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो।"

भगवान की आज्ञा प्राप्त हो गई। पद्मावती उत्तर-पूर्व दिशा की ओर गई। वहां उसने आभूषणादि उतार दिए। स्वयं ही उसने पंचमुष्टि-लोच किया। नारी की शोभा सुवासित, सुदीर्घ रेशमी केशराशि को उसने मोहरहित होकर इस प्रकार उखाड़ फेंका, मानो वह संसार के मोहजाल को ही त्याग रही हो।

फिर भगवान के समक्ष उपस्थित होकर, विधिपूर्वक उन्हें वन्दन कर उसने कहा—

"भगवन्! यह संसार जन्म-मरण, जरा इत्यादि दुःखरूपी अग्नि में जल रहा है। मैं इस दुःख से सदा-सदा के लिए मुक्त होने के उद्देश्य से आपके निकट प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहती हूँ।"

अर्हत् अरिष्टनेमि ने पद्मावती को स्वयं दीक्षा प्रदान की और उसे यक्षिणी आर्या को शिष्या के रूप में सौंप दिया। पद्मावती ने यक्षिणी आर्या के पास ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। तपश्चरण किया। उपवास से लेकर मासिक उपवास तक उत्कृष्ट तप करते हुए एक मासिक संलेखना कर अन्त में वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुई।

इसके बाद यथासमय, यथाक्रम, जब प्रभु द्वारिका नगरी के बाहर नन्दन वन में समवसृत हुए तब श्रीकृष्ण की अन्य रानियों—गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, जाम्बवती, सत्यभामा आदि ने भी विरक्त हो प्रव्रज्या ग्रहण कर अन्त में मुक्ति प्राप्त की।

इसी क्रम में भगवान के पुनः द्वारिका पधारने पर शाम्बकुमार की पत्नी मूलश्री, मूलदत्ता आदि ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की और मुक्ति प्राप्त की।

[१२]

द्वारिका के समृद्धिशाली श्रेष्ठि कुलों में थावच्चा-कुल का विशेष स्थान था। श्रेष्ठी का देहान्त अल्पायु में ही हो गया था, अतः कुल का सारा कार्यभार थावच्चा गाथा-पत्नी ही सँभालती थी। वह बड़ी धैर्यशीला एवं विवेकवान नारी थी।

एक पुत्र था। आश्चर्य है कि इतिहासकार उसका नाम जानने में सफल नहीं सके। अतएव वह आज तक थावच्चापुत्र के नाम से ही विश्रुत है। यह बालक बचपन से ही बहुत विचारशील और मेधावी था। बड़ी दृढ़ लगन थी उसमें, किसी भी बात के अन्त तक पहुंचे बिना उसे चैन नहीं मिलता था। गाथापत्नी थावच्चा, उसकी माता, बड़े जतन से उसका विकास कर रही थी।

एक दिन थावच्चापुत्र अपने भवन की सातवीं मंजिल पर खड़ा होकर प्रातःकाल के समय नगर की शोभा का अवलोकन कर रहा था। वातावरण सुन्दर, सुहावना था। पक्षी चहचहा रहे थे। मेघ-खण्ड हरिणों के छौनों की भाँति मुक्त गगन में विचरण कर रहे थे। शीतल बयार प्रवाहित थीं। थावच्चापुत्र मग्न भाव से इस सौन्दर्य का पान कर रहा था।

उसी समय पड़ौस के आवास से मंगल-गीतों की ध्वनि उठने लगी। मधुर संगीत था। थावच्चापुत्र को जिज्ञासा हुई। उसने नीचे आकर अपनी माता से सहज प्रश्न किया—"माँ! ये गीत क्यों गाए जा रहे हैं?"

माता ने बताया—"पुत्र! पड़ौसियों के यहाँ पुत्र-जन्म हुआ है। हर्ष का अवसर है। अतः मंगल-गीत गाए जा रहे हैं। ऐसा ही होता है।"

"तो माँ, क्या मेरे जन्म पर भी ऐसा ही हुआ था?"

"क्यों नहीं बेटा! तेरे जन्म पर तो इससे भी अधिक खुशियाँ मनाई गई थीं। पूरे मुहल्ले में मिठाइयाँ बाँटी गई थीं। गीत-नृत्य हुए थे।"

थावच्चापुत्र प्रसन्न हो गया। वह फिर से भवन की छत पर जा

पहुँचा। थोड़ी ही देर में वह हर्ष का वातावरण एकदम बदल गया। रुदन की अत्यन्त करुण ध्वनि आने लगी। उसे सुनकर थावच्चापुत्र बहुत उदास हो गया और आश्चर्य करने लगा कि यह 'अचानक' क्या हो गया ?

वह जल्दी से नीचे आया और अपनी माता से पूछने लगा—"माँ ! अभी-अभी तो वहाँ से गीतों की मधुर ध्वनि आ रही थी। अब यह रोने की आवाज क्यों आने लगी ?"

'यही तो संसार है और यही तो इस नश्वर संसार की आँखमिचौनी है'—गाथा-पत्नी ने मन ही मन सोचा, किन्तु प्रगट में उसने अपने पुत्र को इतना ही बताया—

"बेटा ! जिस बालक का जन्म हुआ था वह मर गया। इसीलिए दुःखी होकर लोग रो रहे हैं।"—यह बताते-बताते गाथा-पत्नी स्वयं भी भी बहुत दुःखी हो गई। यह जानकर जिज्ञासु बालक ने माता से फिर प्रश्न किया—

"माँ ! क्या मैं भी मर जाऊँगा ?"

अपने प्यारे बेटे के मुख से ऐसी अशुभ बात सुनकर गाथा-पत्नी चौंक पड़ी। भारी हृदय से उसे प्यार से डाँटते हुए वह बोली—

"ऐसा नहीं बोलते, बेटा, जा, कहीं जाकर खेल। अभी तेरे खेलने-खाने के दिन हैं। ऐसी बातों में क्यों अपना माथा खपाता है तू ? जा भाग जा।"

बालक वहाँ से चला तो गया, अपनी माता का वह आज्ञाकारी पुत्र था, माता को दुःखी भी नहीं करना चाहता था, किन्तु प्रश्न उसके अन्त-र्मानस में जाग्रत हो ही गए थे—मानव मरता क्यों है ? क्या अमर हो जाने का कोई मार्ग नहीं है.....?

ऐसे ही चलते-चलते थावच्चापुत्र युवक हो गया। तब उसकी माता ने बत्तीस रूपवती रमणियों के साथ उसका विवाह बड़ी धूमधाम से कर दिया। यौवन, ऐश्वर्य और सभी प्रकार की सुविधाओं में दिन सुख से व्यतीत होते रहे।

उन्हीं दिनों भगवान अरिष्टनेमि द्वारिका में पधारे। श्रीकृष्ण आदि अन्य व्यक्तियों के साथ थावच्चापुत्र भी भगवान का उपदेश श्रवण करने हेतु गया था। उपदेश सुनकर वह जन्म का विचारशील बालक, जो अब

युवक था, वैराग्य की भावना से भर गया। घर आकर उसने जब अपनी माता से दीक्षित होने की आज्ञा माँगी तब उसकी माता घबरा गई। वह उसे समझाने लगी—

"मेरे बेटे, अभी से तू यह कैसी बातें करने लगा ? अभी तो तूने यौवनकाल में प्रवेश ही किया है। मुनियों का जीवन कोई हंसी-खेल तो नहीं है। वह तो काँटों का मार्ग है। बड़ा कठोर जीवन होता है। तू इतना सुकोमल है। कैसे तू संयम की आराधना करेगा ? अभी नहीं, अभी नहीं !"

लेकिन थावच्चापुत्र दृढ़ रहा।

जब वह किसी भी प्रकार से नहीं डिगा तब उसकी माता को अनुमति प्रदान करनी ही पड़ी। वह कृष्ण के पास गई और उनसे निवेदन करते हुए बोली—

"हे सम्राट् ! मेरा इकलौता पुत्र थावच्चा कुमार भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ग्रहण करना चाहता है। उसने मेरी एक भी नहीं सुनी। अब मेरी इच्छा है कि बड़े ठाठ-बाट से उसका अभिनिष्क्रमण उत्सव करूँ। अतः कृपा कर आप छत्र, चंवर, मुकुट आदि प्रदान कीजिए।"

यह सुनकर कृष्ण ने कहा—"देवानुप्रिये ! चिन्ता न करो। मैं जो हूँ। मैं स्वयं उसका निष्क्रमणोत्सव सम्पन्न करूँगा। यदि वह नहीं माना तो।"

अपने गंधहस्ती, विजय, पर आरूढ़ होकर कृष्ण स्वयं गाथापत्नी के भवन पर गए और थावच्चापुत्र से उन्होंने कहा—

"प्रिय कुमार ! सुना है तुम प्रवज्या ग्रहण करना चाहते हो ?"

"हाँ, तातश्री ! यह सत्य है।"

"किन्तु इतनी शीघ्रता क्यों ? तुम अपनी माता के इकलौते पुत्र हो कुछ समय और ठहर जाओ। मेरी छत्रछाया में तुम्हें किसी प्रकार का कोई भय नहीं होना चाहिए। वायु को छोड़कर अन्य कोई भी तुम्हारा स्पर्श तक नहीं कर सकता।"

श्रीकृष्ण के इस कथन के उत्तर में थावच्चापुत्र ने विनीत भाव से कहा—

"हे तात ! आप सर्वसमर्थ हैं। आपके रहते मुझे अथवा समस्त प्रजा

का भला क्या भय हो सकता है ? किन्तु हे देवानुप्रिय ! क्या आप जरा और मरण से भी मेरी रक्षा कर सकते हैं ?"

इस प्रश्न का कृष्ण के पास क्या उत्तर हो सकता था ?

उन्होंने कहा—"भाई, जन्म, जरा और मरण तो दुर्निवार हैं। महान् शक्तिशाली देव तथा अनन्त बलशाली तीर्थंकर भी इनका निवारण करने में असमर्थ हैं। इनका निवारण तो केवल कर्मों की निर्जरा द्वारा ही सम्भव है।"

"इसीलिए, हे हरि, मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ। मैं जन्म-जरा-मृत्यु के दुःख को सदा-सदा के लिए समूल नष्ट करना चाहता हूँ।"

श्रीकृष्ण ने जान लिया कि थावच्चापुत्र का निश्चय अडिग है। वह निश्चय शुभ तो था ही। अतः उन्होंने फिर अधिक आग्रह नहीं किया। उन्होंने घोषणा करा दी कि थावच्चापुत्र अर्हत् अरिष्टनेमि के पास दीक्षित होना चाहते हैं। अन्य जो भी राजा, युवराज, रानी, राजकुमार, कौटुम्बिक, मांडलिक दीक्षित होना चाहें उन्हें वासुदेव सहर्ष अनुमति प्रदान करते हैं। उनके आश्रित जनों के योग-क्षेम का सम्पूर्ण दायित्व वे स्वयं लेते हैं।

इस घोषणा को सुनकर थावच्चापुत्र को स्नेह करने वाले एक हजार पुरुष दीक्षित होने के लिए तत्काल उपस्थित हो गए।

श्रीकृष्ण ने यथाविधि उन सभी का अभिषेकादि किया। बड़ी धूम-धाम के साथ देव-विमान के सदृश शोभावाली शिविका में, अलंकरणों से शोभित उन सभी लोगों को थावच्चापुत्र के साथ बिठाया गया और निष्क्रमण यात्रा गाजे-बाजों के साथ निकाली गई।

प्रभु के समीप पहुँचकर यथाविधि उन सभी ने प्रव्रज्या ग्रहण की।

दीक्षा के पश्चात् थावच्चा मुनि ने स्थविरों से चौदह पूर्वों तथा एकादश अंगों का अध्ययन किया। यह अध्ययन करने में उन्हें अधिक समय व श्रम नहीं लगा, क्योंकि बचपन से ही ये बड़े कुशाग्रबुद्धि थे। साथ ही साथ वे चतुर्थभक्तादि तप से अपने कर्मों को भी क्षीण करते रहे।

भगवान ने थावच्चा मुनि की योग्यता को परख लिया। उनकी आत्मनिष्ठा, तपोनिष्ठा एवं तीक्ष्ण बुद्धि को देखकर उन्होंने उनके साथ दीक्षित हुए एक हजार मुनियों को उनके शिष्य के रूप में उन्हें प्रदान किया

और आज्ञा दी कि वे भारत के विभिन्न जनपदों में विहार करते हुए जन-कल्याण करें। थावच्चा मुनि ने भगवान की आज्ञा को शिरोधार्य किया।

इस क्रम में स्थान-स्थान पर भव्य जीवों का उद्धार करते हुए वे एक बार अपने शिष्यों सहित शैलकपुर पधारे। वहाँ उनके कल्याणकारी उपदेश को सुनकर राजा शैलक ने अपने मंत्री पंथक सहित पाँच सौ मन्त्रियों के साथ श्रेष्ठ श्रावकधर्म अंगीकार कर लिया।

विचरण करते-करते थावच्चामुनि एक बार सौगन्धिका नगरी में पधारे। उनके वहाँ आगमन से कुछ ही पूर्व वेद-वेदांग और सांख्यदर्शन के उद्भट विद्वान गैरुक वस्त्रधारी शुक नामक प्रकाण्ड विद्वान परिव्राजकाचार्य आए थे। उनके उपदेश को सुनकर उस नगरी का एक प्रतिष्ठित श्रेष्ठी जिसका नाम सुदर्शन था, बहुत प्रभावित हुआ था और उसने उनके द्वारा प्रतिपादित शौचधर्म को स्वीकार कर लिया था। वह शुक परिव्राजक का उपासक बन गया था।

थावच्चामुनि के नगरी में पदार्पण की सूचना पाकर सुदर्शन श्रेष्ठी उनके दर्शन करने गया। उपदेश सुना। धर्म, तत्व संबंधी अनेक प्रश्न उसने मुनिवर से किए। उनके उत्तर इतने सटीक, तर्कपूर्ण एवं सारगर्भित थे कि सुदर्शन के समस्त संशय दूर हो गए और उसने श्रावकधर्म ग्रहण कर लिया।

यह समाचार किसी स्थान पर शुक परिव्राजक को मिला। वह शीघ्रता से सौगन्धिका नगरी आया। सुदर्शन के घर जाने पर सुदर्शन ने उसे पहले की भाँति नमस्कारादि नहीं किया तो उसने इसका कारण पूछा। सुदर्शन ने उत्तर दिया—

"हे विद्वान ! अणगार थावच्चामुनि से मैंने जीवाजीवादि तत्वों का वास्तविक स्वरूप समझकर विनयमूलक धर्म स्वीकार कर लिया है।"

शुक परिव्राजक को यह कैसे अच्छा लगता ? उसने पूछा—

"तेरे वे धर्माचार्य कहाँ हैं ?"

"नगर से बाहर नीलाशोक उद्यान में वे विराजे हैं।"

"ठीक है। मैं उनके पास जाता हूँ। उनसे प्रश्न करता हूँ। यदि मेरे प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर उन्होंने दिया तो उन्हें मैं भी नमस्कार करूँगा।"

इस प्रकार शुक परिव्राजक थावच्चामुनि के पास जा पहुँचे। उनसे उसने सिद्धान्त, धर्म, तत्व, व्याकरण आदि विषयों पर अनेक जटिल प्रश्न

पूछे। उसे अपने प्रश्नों के उत्तर प्रमाण-नय एवं युक्तिपूर्ण ढंग से, स्पष्टरूपेण, मिल गए। उसे वास्तविक बोध हुआ। तब उसने मुनिवर से धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की।

उस धर्मोपदेश ने शुक परिव्राजक की काया-पलट कर दी। वह अंधेरे से उजाले में आ गया।

उसने अपने एक हजार शिष्यों के साथ पंच मुष्टिलोच कर थावच्चा मुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली।

शुक मुनि विद्वान तो थे ही। उनकी योग्यता देखकर थावच्चामुनि ने उन्हें अपने एक हजार अणगारों सहित भारत के विभिन्न जनपदों में विहार करते हुए लोक कल्याण करने की आज्ञा प्रदान की। शुक मुनि ने आज्ञा शिरोधार्य करते हुए अनेकों लोगों को धर्म का सच्चा मार्ग बताया। थावच्चामुनि के श्रमणोपासक शैलकपुर के राजा शैलक ने भी शुक मुनि का उपदेश श्रवणकर पंथक आदि अपने पाँच सौ मंत्रियों सहित श्रमण दीक्षा अंगीकार कर ली।

थावच्चामुनि ने अनेक वर्षों की कठोर संयम साधना के पश्चात् अन्त में पुण्डरीक पर्वत पर जाकर एक मास की संलेखना की और केवल-ज्ञान प्राप्त कर निर्वाणपद प्राप्त किया।

इसी प्रकार थावच्चामुनि के सुशिष्य शुक मुनि और प्रशिष्य शैलक मुनि ने भी पुण्डरीक पर्वत पर ही एक मास की संलेखना के बाद निर्वाण प्राप्त किया।

□

[१३]

वर्षाकाल था। आकाश मेघाच्छादित था। वर्षा की झड़ी लगी हुई थी। वनस्पतियों में नवजीवन का संचार हो गया था।

जैन मुनि वर्षाकाल में विहार नहीं करते। उस काल में वे एक ही स्थान पर रहते हैं। भगवान अरिष्टनेमि भी एक बार वर्षावास हेतु द्वारिका नगरी में पधारे हुए थे। कृष्ण उनके दर्शनार्थ गये और एक प्रश्न उन्होंने पूछा—

"भगवन्! वैसे तो सन्तों को विहार ही पसन्द है। उनके एक गाँव से दूसरे गाँव, एक नगर से दूसरे नगर, इस प्रकार निरन्तर विहार करते रहने से उनके मन में किसी भी एक स्थान अथवा व्यक्ति के प्रति आसक्ति का भाव नहीं जगता। उनकी आत्मा राग-द्वेष से ऊपर रहती है। जन-कल्याण भी अधिक हो पाता है। किन्तु सन्त वर्षाकाल में विहार क्यों नहीं करते?"

भगवान ने स्पष्ट किया—

"कृष्ण! वर्षाकाल में वर्षा होने के कारण त्रस एवं स्थावर जीवों की अधिक उत्पत्ति हो जाती है। मुनिगण अहिंसा-महाव्रत के धारी होते हैं, अतः जीवों की विराधता न हो, इस हेतु से, दया की भावना से प्रेरित होकर, वे उस काल में एक ही स्थान पर रहकर तप और संयम की आराधना करते हैं।"

कृष्ण भी महापुरुष थे। उनके मन में भगवान की कही हुई यह बात बैठ गई। उन्होंने उसी दिन से निश्चय किया—वर्षाकाल में दिग्विजय यात्राएँ नहीं किया करूँगा। किसी सभा का आयोजन भी नहीं करूँगा। सभी जीवों को जीने का अधिकार है।

× × ×

श्रीकृष्ण वासुदेव थे। वासुदेव दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकते। यह उनकी विवशता थी किन्तु जो भी अन्य व्यक्ति आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होना चाहें, उनका अनुमोदन करने, उन्हें प्रेरित करने की प्रतिज्ञा उन्होंने कर ली थी। ऐसे व्यक्तियों का निष्क्रमण-महोत्सव वे अपने पुत्रों के भाँति किया करते थे।

एक दिन उनकी पुत्रियाँ उन्हें नमस्कार करने उनके पास आईं। उनमें से जो विवाह के योग्य हो गई थीं, उनसे कृष्ण बड़े स्नेह से पूछा—"पुत्रियो ! एक बात बताओ। तुम स्वामिनी बनकर जीना पसन्द करोगी या दासी बनकर ?"

भला दास-दासी बनकर कौन रहना चाहता है ? कौन रहना चाहेगा ? सभी ने एक स्वर से स्वामिनी बनकर रहने की ही बात कही।

तब कृष्ण ने अपने प्रश्न का मर्म प्रकट करते हुए कहा—

"देखो, पुत्रियो ! त्याग का जो मार्ग है वह स्वामी बनकर रहने का मार्ग है और भोग का जो रास्ता है, वही दास बनकर रहने की राह है। तुम देखती ही हो कि त्यागी व्यक्तियों के समक्ष सम्राट भी नतमस्तक होते हैं। क्योंकि वह षट्काय का स्वामी है। अतः तुम्हारा जो विचार है वह उत्तम है, तुम्हारे श्रेष्ठ कुल एवं तुम्हारी अच्छी शिक्षा के अनुसार ही है। इसलिए यदि तुम लोग भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ग्रहण करके सदा-काल के लिए स्वामिनी बनना चाहो तो मेरी ओर से तुम्हें आज्ञा है।"

वे समझदार लड़कियां कृष्ण की यह बात सुनकर प्रसन्न हो गईं। उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली।

कृष्ण ने यह परम्परा ही डाल दी। विवाह योग्य लड़कियों से वे यही प्रश्न किया करते। और अपने पुत्र-पुत्रियों को त्याग के मार्ग पर जाते देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी।

× × ×

पाँचों उँगलियाँ एक जैसी नहीं होतीं। कृष्ण की एक रानी चाहती थी कि उसकी बेटी केतुमंजरी विवाह करे, सुख से रहे।

सुख की उसकी परिभाषा यही थी। हमारी दृष्टि में भ्रम हो तो हो। किन्तु वह रानी ऐसा ही सोचती और चाहती थी।

सो उसने केतुमंजरी को समझाकर रखा था—बेटी ! जब पिताजी

तुझसे प्रश्न करें कि तुम स्वामिनी बनकर रहना चाहती हो कि दासी बनकर—तो तुम उत्तर देना कि दासी बनकर।

वह दिन आ गया। कृष्ण ने प्रश्न किया और केतुमंजरी ने रटा-रटाया उत्तर दे दिया—दासी बनकर।

कृष्ण उलझन में पड़ गए। सोचा उन्होंने—यदि मैं इसे समुचित शिक्षा दिए बिना ही इसका विवाह किसी राजा से कर दूँगा तो यह तो संसार के खटराग में फंसेगी ही, अन्य राजकुमारियाँ भी कहीं इसी का अनुसरण न करने लग जायँ। अतः शिक्षा तो देनी चाहिए, आगे भवितव्य प्रबल है। जिसका जैसा भाग्य।

वे विचारमग्न थे कि उन्हें वीरक कौलिक दिखाई दे गया। उसे अपने पास बुलाकर कृष्ण ने उससे पूछा—"तुमने अपने जीवन में वीरता का कोई कार्य किया है ?"

"प्रभु ! आप जैसे महापुरुष के समक्ष कथनीय हो, ऐसा तो कोई भी कार्य मैंने नहीं किया।"

विनम्र उत्तर था। कृष्ण प्रसन्न हुए। किन्तु उन्होंने उसका साहस बढ़ाते हुए कहा—"याद करो। कुछ न कुछ वीरता का कार्य तो तुमने किया ही होगा।"

आज्ञा पाकर वीरक ने अपने जीवन के संस्मरण सुना दिए। कृष्ण उसे लेकर राजसभा में आए। वीरक की वीरता का बखान करते हुए कहने लगे—"इस वीरक ने अपने जीवन में जो कार्य किये हैं वे इसकी जाति के गौरव से बढ़कर हैं। इसने एक बार भूमिशस्त्र (पत्थर) से एक बेर पर रहे हुए रक्तफन (काकीज) नाग को मार दिया। चक्र से खोदी हुई, कलुषित जल को वहन करने वाली गंगा नदी को अपने पैर से रोक दिया। नगरों की गन्दी नालियों पर घोष करने वाली महान् विशाल सेना को अपने दाहिने हाथ से पकड़कर घड़े में पूर दिया। अतः यह महान् वीर है। मैं अपनी पुत्री केतुमंजरी इसे देकर इसकी वीरता का सम्मान करता हूँ।"

वीरक और केतुमंजरी का विवाह हो गया। राजकुमारी छोटी-सी घास-फूस की झोंपड़ी में पहुँच गई। दिन भर आराम से खाट पर पड़े या बैठे वह आदेश दिया करती और बेचारा वीरक उसके आदेशों का दौड़-दौड़ कर पालन करता, बन्दर की तरह नाचता रहता।

एक दिन कृष्ण ने वीरक से पूछा—"क्यों वीरक, सुख से तो हो ? केतुमंजरी तुम्हारी आज्ञा का पालन तो करती है न ? घर का सब काम करती है न ?"

वीरक ने बताया—"स्वामी ! मैं हमेशा उसकी आज्ञाओं का पालन करता हूँ। उसे कोई कष्ट नहीं होने देता।"

कृष्ण ने यह सुनकर अप्रसन्नता का भाव दर्शाते हुए कहा—वीरक ! मैंने तुम्हारा विवाह केतुमंजरी से इसलिए नहीं किया कि तुम रात-दिन उसकी सेवा में लगे रहो। पत्नी का कर्तव्य है कि वह पति की सेवा करे। उसकी आज्ञाओं का पालन करे। अब मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि तुम अपनी पत्नी से घर के सारे कार्य कराया करो। आदेश का पालन नहीं करोगे तो दण्ड दूँगा।"

वीरक के होश फाख्ता हो गए। थर-थर काँप उठा वह कृष्ण के भय से।

घर आकर उसने केतुमजरी को आदेश देने आरम्भ किए।

सुनकर केतुमंजरी क्रोधित होकर बोली—"पागल तो नहीं हो गए तुम ? जानते हो मैं कौन हूँ ? मैं त्रिखण्डाधीश्वर वासुदेव कृष्ण की पुत्री हूँ मुझे आदेश देते हो ?"

किन्तु वीरक ने तो उल्टे उसे पीटना आरम्भ कर दिया। तब केतुमंजरी भागी-भागी कृष्ण के पास आई और वीरक की शिकायत करने लगी।

कृष्ण उसी अवसर की तो प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने कहा—

"बेटी ! मैंने तो पहले ही चाहा था कि तुम स्वामिनी बनकर रहो किन्तु तुमने दासी बनना ही पसन्द किया। अब मैं क्या करूँ ? पत्नी को पति की आज्ञा का पालन करना ही चाहिए।"

अब केतुमंजरी की आँखें खुलीं। उसने कहा—"पिताजी ! भूल हो गई। माताजी के सिखाने से ही मैंने ऐसा कहा था। अब मैं स्वामिनी ही बनाना चाहती हूँ।"

सच्ची, कल्याणकारी राह पर आकर केतुमंजरी ने भगवान् अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ग्रहण करली। सुबह का भूला शाम को घर आ गया।

इसके बाद किसी ने दासी बनने की बात नहीं कही।

× × × ×

एक बार श्रीकृष्ण भगवान् की सेवा में जब पहुँचे तो वहाँ विराजित विशाल सन्त-मंडली को देखकर उन्हें विचार आया—मैं सदैव जब भी दर्शनार्थ आता हूँ तो केवल भगवान् को और विशिष्ट सन्तों को ही वन्दन करके बैठ जाता हूँ। क्यों न आज सभी सन्तों को विधिपूर्वक वन्दन करूँ? उनकी भावना की उच्चता बढ़ी। वे सभी सन्तों को वन्दन करने लगे। उनका मित्र वीरक भी उस समय उनके साथ था। कृष्ण वन्दन करें तो वह कैसे बैठा रहता? वह भी उनकी देखा-देखी वन्दना करने लगा।

जब वन्दन पूर्ण हुआ तब कृष्ण ने प्रभु के समक्ष बैठकर उनसे निवेदन किया—

"भगवन्! मैंने अपने जीवन में तीन सौ साठ संग्राम किये हैं। किन्तु उन संग्रामों में भी मुझे जितना श्रम नहीं हुआ उससे अधिक श्रम आज वन्दन करने में हुआ। कृपया फरमाइये कि वन्दन करने में मुझे क्या फल हुआ?"

भगवान् ने बताया—

"कृष्ण! तुमने भाव-वन्दन किया है। इसके फलस्वरूप तुम्हें क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है। साथ ही तुमने तीर्थंकर गोत्र की शुभ प्रकृति का भी बन्ध किया है। इतना ही नहीं, तुमने सातवीं, छठी, पाँचवीं और चौथी पृथ्वियों का बन्धन भी तोड़ दिया है।

"किन्तु इस वीरक ने तुम्हारी देखा-देखी ही, भाव शून्य वन्दन किया है। इसमें उसके हृदय की भावना नहीं थी। तुम्हें प्रसन्न करने के लिए ही केवल उसने ऐसा किया। अतः इसका वन्दन तो मात्र कायक्लेश ही हुआ है।"

सच्ची भावना के महत्व को उस दिन श्रीकृष्ण और वीरक ने अपने हृदय में उतार लिया।

× × × ×

श्रीकृष्ण के दो पुत्र शाम्ब और पालक थे। उन दोनों की प्रकृति में जमीन-आसमान का अन्तर था। शाम्ब दयालु, धर्मात्मा, उदार प्रकृति का था, जबकि पालक लोभी, दुराग्रही और अभव्य प्रकृति का धनी था।

एक बार जब भगवान् अरिष्टनेमि द्वारावती नगरी में पधारे हुए थे तब श्रीकृष्ण ने कहा—"कल प्रातःकाल जो भी सर्वप्रथम भगवान् को वन्दन करेगा उसे मैं इच्छित वस्तु दूँगा।"

यह सुनकर लोभी पालक ने अवसर का लाभ उठा लेना चाहा। उसे रात भर नींद भी नहीं आई। वह यही सोचता रहा कि कहीं शाम्ब मुझ से पहले ही न चला जाय। प्रातःकाल वह जल्दी उठकर, अपने अश्व पर सवार होकर भगवान् को वन्दन करने चला गया। उसने वन्दन कर लिया। किन्तु उसका वह वन्दन केवल बाहरी था, औपचारिक था—लोभ के कारण, लोभ से प्रेरित था।

शाम्ब अब जागा तब उसने शय्या से उतरकर वहीं से, पूर्ण भक्ति-भावपूर्वक, विभोर होकर भगवान् को नमन किया।

पालक श्रीकृष्ण के पास पहुंचा और उसने अपनी माँग रखी—"पिताजी! आज मैंने सर्वप्रथम भगवान् की वन्दना की। मुझे दर्पक नामक अश्व मिलना चाहिए।"

कृष्ण ने उत्तर दिया—"मैं भगवान् के दर्शन कर आऊँ तब देखूँगा।"

वे भगवान् के समीप आए और उनसे पूछा—"भगवन्! आज सर्वप्रथम आपको शाम्ब ने वन्दन किया अथवा पालक ने?"

भगवान् का यथातथ्य उत्तर था—"भाव से शाम्ब ने और द्रव्य से पालक ने।"

प्रिय पाठकगण! बताइये, उपहार किसे मिला होगा?

शाम्ब को! हां, आपने ठीक अनुमान किया। भाव-वन्दना ही सच्ची वन्दना होती है। द्रव्य-वन्दना तो मात्र कायक्लेश होती है। वीरक और पालक के उदाहरण हमारे सामने ही हैं।

\+ \+ \+ \+

श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम था ढंढणकुमार। भगवान् अरिष्टनेमि के सदुपदेशों और कल्याणी वाणी को सुनकर वह भोगों से विमुख होकर योग की ओर आ गया था। भगवान् के पास दीक्षित होकर वह अल्प समय में ही उग्र साधना करने लगा था।

एक दिन श्रीकृष्ण ने भगवान से पूछा—"भगवन् ! आपके अठारह सहस्र श्रमणों में से सर्वाधिक उग्र तपस्वी और सबसे कठोर साधक तथा सबसे अधिक चरित्रवान् कौन है ?"

भगवान ने बताया—"ढंढण मुनि ।"

श्रीकृष्ण को आश्चर्य हुआ कि थोड़े-से समय में ही ढंढण मुनि ने ऐसी कैसी साधना कर ली ? इतना कितना उग्र तप वे कर पाए हैं कि भगवान ने उन्हें ही सर्वाधिक उग्र साधक बताया है ? उन्होंने यह बात भगवान से पूछ ही ली । तब भगवान ने फरमाया—

"कृष्ण ! ढंढण मुनि ने अलाभ परीषह को विजित कर लिया है । वे द्वारावती नगरी में भिक्षार्थ जाते हैं तो भिक्षा उपलब्ध नहीं होती । अन्तराय कर्म के उदय से उन्हें सर्वत्र अलाभ ही अलाभ का सामना करना पड़ता है । कदाचित् कभी लाभ होता भी है तो इस कारण कि वह राजकुमार था । किन्तु ढंढण मुनि ने यह अभिग्रह ग्रहण कर लिया है कि वे परनिमित्त से होने वाले लाभ को ग्रहण नहीं करेंगे । इसलिए वे साधना में श्रेष्ठतम है ।"

यह जानकर कृष्ण के मन में ढंढण मुनि के दर्शन करने की इच्छा उत्पन्न हुई । उन्होंने भगवान से पूछा—"इस समय ढंढण मुनि कहाँ हैं, भगवन् ?"

भगवान ने कहा—"तुम जब द्वारिका की ओर लौटोगे तब वे तुम्हें भिक्षा हेतु घूमते-घामते दिखलाई देंगे ।"

कृष्ण जब लौटे और नगरी में प्रविष्ट हुए तब उन्हें ढंढण मुनि दिखलाई पड़ गये । अपने हाथी से नीचे उतरकर उन्होंने मुनि के दर्शन किए । उनकी सुख-शान्ति पूछी । उनका मन इतने उग्र तपस्वी के दर्शनों से अत्यन्त प्रसन्न हो गया । यह विचार भी उनके मस्तिष्क में आया कि यह यादव जाति सचमुच धन्य है जिसमें एक से एक बढ़कर इतनी तपोधन, त्यागी, वैरागी आत्माएँ साधना के क्षितिज पर निर्मल नक्षत्रों की भाँति जगमगा रही हैं ।

कृष्ण जब मुनि को वन्दन कर रहे थे—तब एक श्रेष्ठी ने अपने भव्य भवन के ऊँचे गवाक्ष से यह दृश्य देखा । उसने सोचा कि ये मुनि अवश्य ही कोई श्रेष्ठ और विशिष्ट सन्त होने चाहिए जिन्हें कि त्रिखण्ड के

स्वामी वासुदेव श्रीकृष्ण स्वयं अपने हाथी से नीचे उतरकर वन्दन कर रहे हैं।

कृष्ण आगे बढ़ गए।

संयोगवशात् ढंढण मुनि उसी श्रेष्ठी के भवन में भिक्षार्थ आए। श्रेष्ठी ने अपने भाग्य को सराहा और बड़े भक्तिभाव से मोदकों की भिक्षा उन्हें प्रदान की।

भिक्षा लेकर मुनि भगवान की सेवा में पहुंचे और अत्यन्त विनम्रता से उन्होंने भगवान से पूछा—

"भगवन् ! क्या मेरा अन्तराय कर्म क्षीण हो गया है ? क्या यह भिक्षा मेरी अपनी लब्धि की है ?"

भगवान ने उत्तर दिया—"नहीं ढंढण मुनि ! अभी तुम्हारा अन्तराय कर्म क्षीण नहीं हुआ। तुम्हारी यह भिक्षा स्वनिमित्त की नहीं, परनिमित्त की है। श्रीकृष्ण के प्रभाव से ही यह भिक्षा तुम्हें मिली है।"

यह सुनकर ढंढण मुनि को तनिक भी ग्लानि नहीं हुई। उन्होंने यही विचार किया कि जो भिक्षा मुझे अन्य के प्रभाव से मिली हो, वह मेरे लिए अग्राह्य है।

यह सोचकर वे किसी एकान्त, स्वच्छ स्थान पर गये। उस स्थान पर उन्होंने विवेकपूर्वक उन मोदकों को डाल (परठ) दिया।

जब वे मोदकों को परठ रहे थे तब उनकी विचारधारा शुद्धता की ओर ऊपर उठी। उनके घनघाती कर्म नष्ट हो गए और उन्हें उसी समय केवलज्ञान तथा केवलदर्शन की उपलब्धि हो गई।

निराशा के वातावरण में भी जो आशा के दीपक संजोए रहता है वही महान कलाकार, श्रेष्ठ पुरुष होता है।

ढंढण मुनि ऐसे ही कलाकार, ऐसे ही पुरुष-पुंगव थे।

× × ×

एक बार भगवान अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी में पधारे।

यह शुभ सम्वाद सुनकर सदैव की भाँति श्रीकृष्ण अपना तथा नगरी का अहोभाग्य मानकर पूर्ण राजकीय वैभव के साथ उनके दर्शन हेतु गए। निषधकुमार ने भी यह समाचार सुना और वह भी प्रभु-दर्शन के लिये चल पड़ा। भगवान का उपदेश सुनकर उसने श्रावक-धर्म अंगीकार कर लिया।

उस समय भगवान के प्रधान शिष्य गणधर वरदत्त अणगार ने भगवान से प्रश्न किया—"भगवन् ! यह निषधकुमार इष्ट है, इष्टरूप है, कान्त है, कान्तरूप है, प्रिय है, मनोज्ञ है, मनोरम है, सोम है, सोमरूप है,

प्रियदर्शन है, सुरूप है। हे भगवन्! इस निषधकुमार को मानव सम्बन्धी यह ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई?"

भगवान ने समाधान किया—

"उस काल, उस समय में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में रोहितक नामक एक नगर था। वहाँ राजा महाबल राज्य करता था, जिसकी रानी का नाम पद्मावती था। वीरंगत नामक उनका पुत्र था। उसका विवाह बत्तीस कन्याओं के साथ हुआ था।

एक बार आचार्य सिद्धार्थ अपने शिष्य परिवार सहित वहाँ पधारे। उनका उपदेश सुनकर वीरंगत श्रमण बन गया। उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, उत्कृष्ट तप-साधना की और अन्त में समाधिमरण प्राप्त कर वह पाँचवें ब्रह्मलोक में देव हुआ। वहाँ से आयु पूर्ण कर वही वीरंगत देवता का जीव निषधकुमार हुआ है। यह विशाल सम्पत्ति एवं ऋद्धि इसके पूर्वकृत पुण्यों का ही सुफल है।"

तब वरदत्त ने पूछा—"भगवन्! क्या यह निषधकुमार आपके सन्निकट दीक्षा ग्रहण करेगा?"

"हाँ, यह अणगार बनेगा।" प्रभु ने बताया।

भगवान का कथन सत्य होना ही था। एक बार जब वे पुनः द्वारिका पधारे तब निषधकुमार ने उनकी परम कल्याणी वाणी का श्रवण कर, विरक्त होकर संयम ग्रहण कर लिया। स्थविरों के पास ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। उन्होंने चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम आदि अनेक प्रकार के तपों से पूरे नौ वर्ष तक श्रामण्य पर्याय का पालन किया। अन्त में वे बयालीस भक्तों के अनशन द्वारा छेदन कर, पापस्थानों की आलोचना और प्रतिक्रमण कर समाधिपूर्वक कालगत हुए।

निषध मुनि को कालगत जानकर वरदत्त अणगार ने भगवान से प्रश्न किया—"भगवन्! आपके शिष्य निषध मुनि जो प्रकृति से भद्र एवं विनयी थे, काल प्राप्त कर कहाँ गये हैं?"

भगवान ने बताया—"वे सर्वार्थसिद्ध विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए हैं। उनकी स्थिति तेतीस सागरोपम की है।"

वरदत्त अणगार विचार कर रहे थे—भगवान अरिष्टनेमि की कृपा से कितने-कितने भव्य प्राणियों का उद्धार हो गया, कितने जीव संसार-सागर के पार उतर गये, इसका कोई लेखा-जोखा क्या इतिहास कभी प्रस्तुत कर पायेगा?

[१४]

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि द्वैपायन शाम्ब आदि यादव-कुमारों द्वारा पीड़ित किया जाकर मृत्यु को प्राप्त हुआ था और उसने मृत्यु से पूर्व द्वारिका नगरी को आग से जलाकर भस्म करने का निदान किया था। मृत्यु के पश्चात् वह अग्निकुमार देव हुआ और अपने निदान को पूर्ण करने का अवसर देखने लगा। किन्तु कृष्ण की सलाह से द्वारिकावासी अपना समय धर्माराधन में व्यतीत कर रहे थे। समस्त द्वारिका एक तपो-भूमि-सी बनी हुई थी। अतः द्वैपायन को (अग्निकुमार) अपना इच्छित कर्म करने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो रहा था।

इस प्रकार ग्यारह साल व्यतीत हो गये।

इतना समय सकुशल बीत जाने के कारण कतिपय द्वारिकावासियों के मन में निश्चिन्तता का भाव आ गया। उस निश्चिन्तता ने उनके आचरण में धीरे-धीरे शिथिलता ला दी। उनमें से बहुत से लोग पुनः मांस-मदिरा का सेवन करने लगे।

छिद्र हो गया। द्वैपायन देव ने उस छिद्र का लाभ उठा लिया। वह द्वारिका नगरी पर भीषण अग्नि की वर्षा करने लगा। सर्वत्र अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाएं उठने लगीं। सारी नगरी धू-धूकर जलने लगी। पूरी नगरी अग्नि का कुण्ड ही बन गई। नगर निवासियों की चीख-पुकार से आकाश फटने लगा, किन्तु भागने या बच पाने का कोई मार्ग किसी को नहीं मिल सका। द्वैपायन ने सभी को ऐसा स्तम्भित कर दिया कि जो जहाँ था, वहीं सुलग उठा।

देव-जनित इस भीषण सर्वनाश के आगे त्रिखण्ड के अधीश्वर, तीन सौ साठ महा संग्रामों के विजेता, महारथी श्रीकृष्ण भी विवश रह गये। उन्होंने अन्य कोई उपाय न देखकर एक रथ में वसुदेव, देवकी और रोहिणी

को बिठाकर बलराम सहित जलती हुई द्वारिका से निकल जाना चाहा। वे रथ हाँकने लगे। किन्तु अश्व हिले तक नहीं।

यह स्थिति देखकर कृष्ण और बलराम अश्वों को खोलकर उनके स्थान पर स्वयं जुत गये और तेजी से रथ को ले चले। किन्तु जब वे नगर द्वार से बाहर निकले तब जलता हुआ द्वार भरभराकर वसुदेव, देवकी और रोहिणी पर गिर पड़ा। केवल कृष्ण और बलराम ही बच सके। द्वैपायन ने प्रकट होकर उनसे कहा—"हे कृष्ण! मैंने पहले ही कहा था कि आपके और बलराम के अतिरिक्त द्वारिका का कोई भी अन्य प्राणी मेरे वैर से बच नहीं पायेगा। अतः आपका प्रयत्न निरर्थक है।"

धीरे-धीरे काल के गाल में जाते हुए वसुदेव, देवकी और रोहिणी ने भी कहा—

"प्रिय पुत्रो! तुम समर्थ महापुरुष हो। तुमने हमें बचाने का पूरा प्रयत्न किया। हम प्रसन्न हैं। किन्तु कर्मगति बलीयसी है। अतः अब हम तो प्रभु की शरण लेते हैं। तुम दोनों अब यहाँ से विदा लो। जाओ, यह हमारी आज्ञा है।"

उस समय उन सर्वसमर्थ नरशार्दूलों की मानसिक स्थिति क्या हुई होगी, इसका अनुमान कोई कैसे लगा सकता है? समस्त द्वारिका त्राहि-त्राहि पुकार रही थी, किन्तु वे महारथी विवश थे·····।

सब कुछ समाप्त हो गया।

देव-विनिर्मित वह अनुपम नगरी राख का ढेर मात्र रह गई।

आठों प्रहर जहाँ भक्ति-संगीत की मधुर स्वर लहरियाँ गूँज करती थीं, वहाँ शेष रह गया एक शून्य·····महाशून्य!

विवश बोझिल मन लिए, मौन, उदास, चिन्तन में डूबे हुए कृष्ण-बलराम अपनी प्यारी द्वारिका और उससे भी अधिक प्रिय अपनी प्रजा को राख के रूप में छोड़कर चल पड़े।

उन्हें पाण्डवों की याद आई। वे पाण्डु मथुरा की ओर ही चले।

अनेक वन-पर्वतों को पार करते वे एक दिन कौशाम्बी-वन में पहुंचे। कृष्ण को बहुत तीव्र प्यास लग आई। वे थक भी बहुत गये थे। प्यास ने और भी व्याकुल बना दिया था। बलराम से उन्होंने कहा—

"भैया ! बड़ी प्यास लगी है। अब तो एक कदम भी चला नहीं जाता है।"

"तुम यहाँ इस वृक्ष की छाया में बैठो, कृष्ण ! मैं अभी आस-पास से जल खोजकर लिये आता हूँ।"—कहकर बलराम ने कृष्ण को एक वृक्ष की छाया में बिठा दिया और स्वयं पानी लेने चले गये।

थके हुए कृष्ण लेट गये। अपना पीताम्बर उन्होंने ओढ़ लिया और विश्राम करने लगे।

होनी प्रबल होती है। दुर्निवार होती है। उसी समय जरत्कुमार वनों में भटकता-भटकता उस कौशाम्बी वन में उसी स्थान पर आ पहुँचा जहाँ कृष्ण लेटे हुए थे। दूर से उसने कृष्ण को देखा तो उसे वृक्ष की सघन छाया में किसी हरिण के बैठे होने का भ्रम हुआ। उसने लक्ष्य साधकर बाण चला दिया।

क्रूर भवितव्य का वह बाण कृष्ण के पैर में अचूक रूप से लगा।

जरत्कुमार समीप आया और हरिण के स्थान पर अपने भाई कृष्ण को काल का ग्रास बनते देखकर फूट-फूट कर रो पड़ा। स्वयं को धिक्कारने लगा। आत्मग्लानि से पीड़ित होकर हाहाकार करने लगा।

किन्तु कृष्ण ने उसे धैर्य बँधाते हुए परम शान्त-भाव से, अत्यन्त मधुर स्वर में कहा—

"भाई ! दुखी न बनो। ऐसा होना ही था, हो गया। तुम तो मात्र निमित्त बने हो। लेकिन अब एक पल भी यहाँ मत ठहरो। बलदाऊ आते ही होंगे। उन्होंने तुम्हें यदि देख लिया तो फिर त्रिलोक में कोई तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेगा। उनके क्रोध को तो तुम जानते ही हो। अतः शीघ्रता करो। अपने यादव कुल में अब एक तुम्हीं बचे हो। यह मेरी कौस्तुभ मणि लो और शीघ्रता से पाण्डव नगरी की ओर चले जाओ। वहाँ पाण्डवों को द्वारिका-दहन और मेरे कालगत होने का समाचार देकर उन्हीं के पास रहना। अब जाओ·····जाओ भाई·····।"

जरत्कुमार चला गया।

त्रिखण्डाधिपति वसुदेव श्रीकृष्ण भी चले गये।

बलराम ने लौटकर देखा कि कृष्ण को नींद आ गई है। शीतल जल एक स्थान पर रखकर वे उनके जागने की प्रतीक्षा करने लगे।

किन्तु चिरनिद्रा से भी कभी कोई जागा है कि कृष्ण जागते ?

बहुत देर प्रतीक्षा करने पर भी जब कृष्ण जागे नहीं तब बलराम ने धीरे उन्हें पुकारा। फिर हिलाया-डुलाया। किन्तु तब भी जब कृष्ण नहीं उठे हैं। तो बलराम को ज्ञात हो गया कि सब कुछ समाप्त हो गया। वे दुःख के सागर में तो डूब ही गये, क्रोध से भी जल उठे और सिंह के समान गर्जन करने लगे—"कौन पामर, पापी है जिसने मेरे भाई पर बाण चलाया है ? सामने आ, हत्यारे ! तेरा काल तुझे ललकारता है।"

कहीं से कोई उत्तर नहीं आया।

केवल दिशाएँ उनके गर्जन से गूँजती रहीं।

बलराम बन्धु-प्रेम से विक्षिप्त-से हो गए। किसी भी प्रकार वे मानने को तैयार नहीं थे कि कृष्ण अब जीवित नहीं हैं और अपनी चिरनिद्रा से वे अब कभी नहीं जागेंगे। अपने प्यारे भाई के प्रेम में पगलाये बलराम कृष्ण के शव को अपने कन्धे पर लादे-लादे इधर से उधर भटकने लगे।

इस प्रकार छह महीने व्यतीत हो गये।

यह स्थिति कब तक चलती रह सकती थी ? बलराम के सारथि सिद्धार्थ ने अपने देवरूप में उनकी यह स्थिति देखी तो उन्हें प्रतिबोध देने के लिए वह प्रस्तुत हुआ। बलराम के सारथि के रूप में, दीक्षित होने से पूर्व, उसने उन्हें प्रतिबोध देने हेतु आने का वचन भी दिया था।

अतः वह आया।

उसने सोचा कि इस समय प्राणों से भी अधिक प्रिय भाई कृष्ण का मोह बलराम को इतना प्रबल है कि सीधे उपदेशात्मक प्रतिबोध देने का प्रभाव उन पर पड़ सकेगा, यह संदिग्ध है। अतः उसने परोक्ष रूप से उन्हें जागृत करने का निश्चय किया।

यह निश्चय कर जिस मार्ग से बलदेव आगे बढ़ रहे थे उस मार्ग पर कुछ आगे वह एक सारथि का रूप बना कर बैठ गया। उसने पत्थर का एक विशाल रथ बनाकर उसे चकनाचूर करके मार्ग में उसके टुकड़े बिखेर दिये और उसे ठीक करने का उपक्रम करने लगा।

बलराम वहाँ आए। देखा। देखकर बोले—"पागल हुए हो क्या ? यह क्या कर रहे हो तुम ?"

"अपना पत्थर का रथ ठीक कर रहा हूँ, टूट गया है पर्वत से गिर कर।"

"अरे बावले ! कहीं पत्थर का रथ भी इस प्रकार पुनः ठीक हो सकता है क्या ?"

"क्यों नहीं हो सकता ? जिन महारथी वासुदेव ने हजारों लोगों को युद्ध में मार दिया किन्तु स्वयं नहीं मरे, और जब वे स्वयं बिना युद्ध के ही मर गये, यदि वे पुनः जीवित हो सकते हैं तो मेरा रथ क्यों नहीं ठीक हो सकता ?"

बलदेव ने सोचा—कोई पागल है। वे आगे बढ़ गए।

देव ने अब एक माली का रूप धारण किया और फिर बलराम के मार्ग में आगे कहीं बैठकर एक चट्टान पर वह कमल उगाने का यत्न करने लगा। जब बलराम ने वहाँ पहुँचकर उसे देखा तो पूछा—"क्या कर रहे हो ?"

"कमल उगा रहा हूँ।"

"अरे मूर्ख ! कभी चट्टान पर भी कमल उगा है ?"

"क्यों नहीं उग सकता ? यदि तुम्हारा मृत भाई जीवित हो सकता है तो चट्टान पर कमल क्यों नहीं उग सकता ?"

बलराम ने सोचा—यह भी कोई पागल है। वे आगे चल पड़े।

देव ने भी आगे जाकर किसी मनुष्य का रूप बनाया और एक पूरी तरह जले हुए वृक्ष के ठूंठ को पानी पिलाने लगा। बलराम ने उसे देखकर फिर अपना प्रश्न किया कि क्या कर रहे हो, तो उत्तर मिला—"इस ठूंठ को हरा-भरा कर रहा हूँ।"

बलदेव ने कहा—"कहीं जला हुआ ठूंठ भी फिर से हरा-भरा हो सकता है ? तुम भी कोई पागल या मूर्ख ही हो।"

यह सुनकर देव ने कहा—"यदि तुम्हारे कन्धे पर रखा हुआ यह शव पुनः जीवित हो सकता है तो यह ठूंठ फिर से हरा-भरा क्यों नहीं हो सकता ?"

कोई पागल है यह भी। वज्रमूर्ख है। ऐसा सोचकर बलराम फिर आगे बढ़ गये। अब तक उनका क्रोध जागृत नहीं हो सका था।

अब देव आगे कहीं मार्ग में बैठकर एक मरी हुई गाय को घास खिलाने लगा। बलराम ने वहाँ पहुँचकर कहा—"अरे मूर्खराज ! कहीं मरी हुई गाय भी घास खाती है ?"

देव ने कहा—"भाई, यदि तुम्हारा मृत भाई जीवित हो सकता है तो मरी हुई गाय घास क्यों नहीं खायेगी ?"

बार-बार अपने भाई के मृत होने की बात सुनकर अब अन्ततः बलराम सोचने लगे—क्या सचमुच मेरा प्यारा भाई कृष्ण मर ही गया है ? वे गहरे विचार में डूबने लगे।

देव ने यह समय उचित समझा और तत्काल सिद्धार्थ सारथि के रूप में आकर उसने बलराम से कहा—

"हे बलराम ! मैं आपका सारथि सिद्धार्थ हूँ। मुझे पहचानो। भगवान अरिष्टनेमि के पास मैंने दीक्षा ग्रहण की थी और देव-भव प्राप्त किया है। आपने एक बार मुझे कहा था कि किसी समय विपत्ति काल में मैं आप को प्रतिबोध देने आऊँ। अतः मैं आया हूँ। याद कीजिए, भगवान ने भविष्य-कथन किया था कि जरत्कुमार के हाथ से वासुदेव श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी। भगवान का कथन मिथ्या कैसे हो सकता था ? अब उसी के हाथों श्रीकृष्ण की मृत्यु हुई है। श्रीकृष्ण ने अपनी कौस्तुभ मणि देकर जरत्कुमार को पांडवों के पास भेजा है।

"हे बलदेव ! आप भाई के मोह से ग्रसित होकर छह माह से उनका शव उठाकर इधर-उधर भटक रहे हैं। इस मोह का त्याग कीजिए।"

यह प्रतिबोध देकर देव अदृश्य हो गया।

बलदेव की विमूर्च्छित संज्ञा जागृत हो गई। उन्होंने तत्काल श्रीकृष्ण का दाह-संस्कार कर दिया।

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान अरिष्टनेमि ने उसी समय जान लिया कि बलराम अब मोहमुक्त होकर विरक्त हो गए हैं। अतः उन्होंने अपने एक विद्याधर मुनि को उनके पास भेज दिया। उनके उपदेश को सुनकर बलराम ने उनके पास दीक्षा ग्रहण कर ली और दीक्षित होकर वे उत्कृष्ट तप करने लगे।

कालान्तर में बलराम मुनि ने अपने गुरु से एकल विहार करने की अनुमति प्राप्त कर ली और वे स्थान-स्थान पर विचरण करते हुए साधना करने लगे।

एक बार मासखमण के पारणे हेतु वे किसी नगर में प्रवेश कर रहे थे। मार्ग में किसी कूप पर कुछ महिलाएं पानी भर रही थीं। बलराम का रूप अत्यन्त आकर्षक था। साधक जीवन में उनके रूप में भव्यता और दिव्यता का अद्भुत समावेश हो गया था। उन्हें देखकर स्त्रियाँ उनके अद्-भुत रूप पर न्यौछावर हो जाया करती थीं। उस समय कूप पर पानी भरने वाली स्त्रियों में से एक स्त्री भी उन्हें देखकर अपनी सुधबुध खो बैठी। वह ऐसी बेभान हो गई कि घड़े में रस्सी बाँधकर कुए में डालने के स्थान पर उसने रस्सी का फन्दा अपने पुत्र के गले में डाल दिया और उसी को कुए में डालने लगी।

अनर्थ हो जाता। मुनि ने उस स्त्री को सावधान किया और उसी समय बिना गोचरी के लिए आगे बढ़े, वे उल्टे पैरों जंगल की ओर लौट गये। उस दिन के बाद उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे कभी किसी गाँव अथवा नगर में प्रवेश नहीं करेंगे। जंगल में ही काष्ठ इत्यादि एकत्र करने आने वाले लोगों से जो कुछ भी भिक्षा प्राप्त हो जायगी केवल वही भिक्षा ग्रहण किया करेंगे।

इस प्रकार बलराम मुनि उग्र तप करने लगे। एक बार किसी शत्रु राजा को बलराम मुनि के एकाकी जंगल में निवास करने की सूचना मिली। उसने पुराना वैर निकालने का निश्चय किया और उन्हें मारने के लिये सैन्य भेज दिया। किन्तु राजा के उस विशाल सशस्त्र सैन्य को सिद्धार्थ देव ने सिंह का रूप धारण कर भयभीत करके भगा दिया।

जंगल के मूक प्राणी भी हिंसक और अहिंसक को पहचान जाते हैं। विशुद्ध, निर्मल प्रेम के प्रभाव से वे भी अछूते नहीं रह पाते। बलराम मुनि सभी जीवों को अपने ही समान समझते थे। संसार के छोटे-बड़े किसी भी प्राणी के प्रति उनके हृदय में वैरभाव नहीं था। अतः जंगल के प्राणी निःशंक भाव से उनके समीप आ जाया करते थे। एक मृग तो जाति-स्मरण ज्ञान हो जाने से अपने पूर्व भवों का स्मरण कर उनका परम भक्त बन गया था। वह जंगल में इधर-उधर घूमता और देखता कि कौन काष्ठ लेने आया है। उन्हें देखकर वह पुनः बलदेव मुनि के पास आता और अपने हृदय के भाव बताता कि आपको भिक्षा देने वाला उधर है।

एक दिन मासखमण का पारणा था। मृग के संकेत से मुनि एक स्थान पर भिक्षा के लिए पहुँचे। एक सारथि अपने रथ को ठहराकर काष्ठ

बटोर रहा था। मुनि को देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने अपने भाग्य को सराहा और मुनि के चरणों में उसने वन्दन किया। अत्यन्त उदार भावना से उसने मुनि को आहार का दान दिया।

प्रिय पाठकगण ! वह पुनीत दृश्य देखने योग्य ही था। मुनि आहार ग्रहण कर रहे थे। सारथि आहार दान कर रहा था। मृग अपने मन में विचार कर रहा था कि अहा, यह सारथि कितना भाग्यशाली है कि मुनि को दान दे रहा है !

उसी समय तूफान उठा और वह वृक्ष गिर पड़ा। बलदेव मुनि, सारथि और मृग तीनों ने शुभ ध्यान में आयुष्य पूर्ण किया। वे तीनों ब्रह्म-देवलोक के पद्मोत्तर विमान में उत्पन्न हुए।

शुभ भावना का यह सुफल था।

[१५]

आइये, अब हम इस परम पावन पुरुषार्थकथा के अन्तिम चरण में प्रवेश करें।

भगवान् अरिष्टनेमि ने पाँच पाण्डवों तथा सती द्रौपदी को प्रतिबोध देने हेतु अपने शिष्य धर्मघोष मुनि को अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ तथा आर्या सुव्रता को अनेक श्रमणियों के साथ पाण्डु-मथुरा भेजा। धर्मघोष स्थविर चार ज्ञान के धारक एवं प्रबल प्रतिभा के धनी थे। उनके उपदेश को सुनकर पाण्डवों ने धर्मघोष अनगार के पास तथा द्रौपदी ने आर्या सुव्रता के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। पाण्डवों ने बारह और द्रौपदी ने ग्यारह अंगों का पूर्ण, गम्भीर अध्ययन किया। और वे सभी उत्कृष्ट जप-तप की साधना में लीन हो गये। वे महारथी अपने बाह्य शत्रुओं का तो विनाश कर ही चुके थे, भगवान् की सद्प्रेरणा से वे अब अपने आभ्यन्तर अरियों को समाप्त करने में जुट गए।

आत्मकल्याण का तो यही एक मात्र मार्ग है न !

भगवान् अरिष्टनेमि उस समय सौराष्ट्र जनपद में विचरण कर रहे थे। युधिष्ठिरादि पाँचों पाण्डव-मुनियों के मन में भगवान् के दर्शन करने की तीव्र भावना उत्पन्न हुई। अपने गुरुदेव, धर्मघोष स्थविर की आज्ञा लेकर उन्होंने सौराष्ट्र की ओर विहार किया।

ग्राम और नगर पीछे छूटते गए।

वन, पर्वत और मैदान भी एक के पश्चात् एक पार होते चले गए।

इस प्रकार निरन्तर मास-मास का तपःकर्म करते हुए, अविराम चलते-चलते वह मुनि मण्डली हस्तिकल्प नगर के सहस्राम्र वन में आ पहुँची। मुनिगण यथाप्रतिरूप अभिग्रह कर संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए वहाँ ठहरे। उस स्थान से अब भगवान् केवल बारह योजन ही दूर थे। अतः पाण्डव-मुनियों के मन में अपार प्रसन्नता थी कि अब तो शीघ्र ही उन्हें भगवान् के दर्शन प्राप्त होंगे।

प्रथम प्रहर में स्वाध्याय तथा दूसरे प्रहर में ध्यान कर, तीसरे प्रहर में युधिष्ठिर मुनि की आज्ञा लेकर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव मुनि मासखमण,पारणा के लिए नगर में पधारे। भिक्षा के लिए परिभ्रमण करते हुए उन्होंने अनेक व्यक्तियों के मुख से सुना कि अर्हत् अरिष्टनेमि ने उज्जयन्त शैल-शिखर पर निर्जल एक मास के अनशन से पांच सौ छत्तीस श्रमणों के साथ काल धर्म को प्राप्त किया है, यावत् वे सभी दुःखों से मुक्त हुए हैं।

यह वृत्त सुनकर वे चारों अनगार सहस्राम्र उद्यान में लौटे। उन्होंने भात-पानी का प्रत्युप्रेक्षण किया। गमनागमन का प्रतिक्रमण कर एषणा-अनैषणा की आलोचना की। लाए हुए भोजन को युधिष्ठिर मुनि को दिखाते हुए वे बोले—

"देवानुप्रिय ! निश्चय ही अर्हत् अरिष्टनेमि उज्जयन्त शैल-शिखर पर पाँच सौ छत्तीस अणगारों सहित जल रहित अनशन कर मुक्त हुए हैं। अतः हमारे लिए भी यही श्रेयस्कर है कि इस ग्रहीत भक्त पान का परिष्ठापन कर शत्रुंजय पर्वत पर शनैः शनैः चढ़कर संलेखना से कषायों को कृश कर मृत्यु की बिना इच्छा लिए विचरण करें।

यही निश्चय शुभ था। इसी विचार के साथ वे पाँचों अनगार शत्रुंजय पर्वत पर गए और दो मास की संलेखना से आत्मा को कृश कर श्रेष्ठ केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

\+ \+ \+ \+

फिर क्या हुआ ?

फिर क्या होना था प्रिय पाठकगण ! फिर तो यही कि हमने आपको एक परम पावन, परम उज्ज्वल, पुण्य पुरुषार्थ—कथा कही और आपने सुनी। अब आगे कुछ करेंगे वह तो आप ही करेंगे। हमारी सद्भावना है कि आपके द्वारा जो कुछ भी किया जाय वह शुभ हो !

भगवान् अरिष्टनेमि तीन सौ वर्ष पर्यन्त कुमार अवस्था में रहे। चौपन रात्रि-दिवस छद्मस्थ पर्याय में रहे। सात सौ वर्षों तक श्रमण जीवन में रहे।

ग्रीष्म ऋतु के चतुर्थ मास, आषाढ़ मास की शुक्ला अष्टमी के दिन रैवतक शैल-शिखर पर अन्य पाँच सौ छत्तीस अणगारों के साथ जलरहित मासिक तप कर चित्रा नक्षत्र के योग में मध्य रात्रि में, निषद्या में अवस्थित होकर आयु कर्म, वेदनीय कर्म, नाम कर्म और गोत्र कर्म—इन चारों कर्मों को नष्ट कर वे कालगत हुए, सर्व दुःखों से मुक्त हुए। ❀❀